NOTES

सोफिस्ट का नीति विचार

ग्रीक दर्शन में सुकरात से पूर्व सोफिस्टों ने **नैतिक सापेक्षतावाद** का प्रतिपादन किया था। सोफिस्टों में प्रोटेगोरस तथा जार्जियस प्रमुख थे। इन्होंने रूढ़ियों का खंडन किया, बहुदेववाद का खंडन किया, स्वतंत्र तर्कपूर्ण चिंतन एवं मानववाद का आधार तैयार किया।

प्रोटेगोरस का कथन है- 'Homo Mensura' अर्थात् ***मनुष्य ही सभी वस्तुओं का मानदंड है।*** यहाँ मनुष्य का आशय सामान्य मनुष्य से न होकर व्यक्ति विशेष से है। तात्पर्य है कि एक मनुष्य को जो सत्य प्रतीत होता है, वह उसके लिए सत्य है और दूसरों को जो सत्य प्रतीत होता है वह उनके लिए सत्य है। इस रूप में यहाँ नैतिकता की आत्मनिष्ठ एवं सापेक्षतावादी अवधारणा को स्वीकार किया गया है। इस रूप में सत्य स्थायी, सर्वव्यापी एवं वस्तुनिष्ठ नहीं माना जा सकता है। नैतिकता के निर्धारण का कोई वस्तुनिष्ठ सर्वव्यापी मापदंड नहीं है। यहाँ मनुष्य को ही नैतिकता की कसौटी माना गया है। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं और सुविधाओं के अनुसार नियमों को बनाता है तथा देशकाल और परिस्थिति के अनुसार उसमें परिवर्तन भी करता है। इस प्रकार यहां नैतिक सापेक्षतावाद और व्यक्तिवाद का समर्थन है।

आलोचना

यदि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही नैतिकता के औचित्य का निर्धारक है तो वैसी स्थिति में समाज में एकता एवं न्याय की स्थापना करने में कठिनाई होगी।

सुकरात के अनुसार सद्गुण (Socrates's View of Virtue)

ऐच्छिक कर्म

अच्छा कर्म- कर्तव्य अभ्यास आदत चरित्र धर्म चरित्र की उत्कृष्टता है।

बुरा कर्म - अभ्यास आदत दुर्गुण चरित्र दुर्गुण चरित्र की निकृष्टता है।

स्पष्ट है कि सद्गुण नैसर्गिक या जन्मजात न होकर अर्जित प्रवृत्ति है।

प्र. सद्गुण का शाब्दिक अर्थ क्या है?

'Virtue' शब्द लैटिन के विर (Vir) से उद्भूत हुआ है - पुरूषत्व या वीरता। साहस, विवेक, संयम, न्याय, अहिंसा, मैत्री आदि सद्गुण माने जाते हैं। सद्गुण आत्मा के नैतिक विकास का सूचक है। यह चरित्र की श्रेष्ठता एवं उत्कृष्टता का सूचक है। सुकरात मतानुसार सद्गुण ज्ञानरूप, वस्तुनिष्ठ, सार्वभौम, अविभाज्य व एक है। बौद्धिक सुख-प्राप्ति इसके आचरण से ही संभव है। मनुष्य के नैतिक होने के लिए सद्गुणी होना आवश्यक है।

प्र. ज्ञान व सद्गुण में क्या संबंध है?

सुकरात के अनुसार ज्ञान व सद्गुण में अनिवार्य व अभेद संबंध है। सद्गुण ज्ञान का परिणाम है। ज्ञान से ही समस्त सद्गुणों का उद्भव होता है। ***ज्ञान सद्गुणी बनने की अनिवार्य एवं पर्याप्त शर्त है।*** ज्ञान का वास्तविक अर्थ है- शुभ-अशुभ, सत्य-असत्य, कर्तव्य-अकर्तव्य में भेद करने की क्षमता। जिसमें यह ज्ञान है वह कभी गलत कर्म नहीं करेगा।

प्र. सद्गुण शिक्षणीय है।

सुकरात के अनुसार सद्गुण ज्ञानरूप है और ज्ञान शिक्षणीय है। शिक्षा द्वारा मनुष्य की चिंतनशीलता और ज्ञान की वृद्धि की जा सकती है। इसलिए उपयुक्त शिक्षा देने से मनुष्य सद्गुणी हो जाता है।

प्र. सद्गुण की एकता क्या है?

सुकरात के अनुसार- सद्गुण ज्ञान रूप है। ज्ञान एक है। अतः सद्गुणों में भी एकता है। करूणा, संयम, साहस,

NOTES

न्याय आदि सभी सद्गुण ज्ञान के विभिन्न प्रकार या नाम हैं। इसका आशय यह है कि हम एक स्थान पर सदगुणी और दूसरे स्थान पर दुर्गुणी नहीं हो सकते हैं।

सुकरात के विचारों का मूल मंत्र है- आत्म ज्ञान 'अपने को जानो' know thyself हमें क्या करना चाहिए जीवन के आदर्श का अर्थ क्या है? सर्वोच्च शुभ या शुभ जीवन क्या है? यही ज्ञान वास्तविक और उपयोगी है। चूंकि ज्ञान सर्वव्यापी और वस्तुनिष्ठ है, उसी प्रकार शुभ भी सार्वभौम एवं वस्तुनिष्ठ है। नैतिकता व्यक्तिनिष्ठ नहीं बल्कि सार्वभौम है। नैतिकता में वस्तुनिष्ठता या सर्वव्यापकता तभी होगी जब विवेक के द्वारा ज्ञान हो। ज्ञान ही सद्गुण है।

प्र. मूल सद्गुण क्या है?

मूल सद्गुण सुख है जो बौद्धिक व सामान्य है।

प्र. सुकरात के अनुसार- नैतिकता का मानदण्ड क्या है?

सुकरात सामान्य सुख को नैतिकता का मानदण्ड मानते हैं। यह आत्मगत् नहीं वरन् सर्वगत सुख है।

प्र. व्यक्ति स्वेच्छा से बुरा नहीं होता। आशय बताएँ।

मनुष्य स्वेच्छा से सुख-प्राप्ति चाहता है। सुख-प्राप्ति शुभ कर्मों पर निर्भर है। अत: व्यक्ति स्वेच्छा से शुभ कर्म करना चाहता है। वह स्वेच्छा से बुरा नहीं होता।

प्र. ज्ञान व कर्म में क्या संबंध है?

ज्ञान व कर्म में अभेद संबंध है। ज्ञानी ही सद्कर्मों का परिपालन करता है और अज्ञानी ही दुष्कर्मों से युक्त होता है। **''कोई व्यक्ति स्वेच्छा से न बुरा होता है और न अनिच्छा से भला हो सकता है।''**

प्रत्येक व्यक्ति स्वाभाविक रूप से आनंदपूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहता है।

आनंद शुभ कर्मों पर निर्भर है।

शुभ कर्मों के लिए शुभ का ज्ञान आवश्यक है।

इस प्रकार ज्ञान शुभ कर्मों का सार है। ज्ञान का सद्गुणों से अनिवार्य एवं तादात्म संबंध है। ऐसी स्थिति में ज्ञानी बुरा कर्म नहीं कर सकता।

अत: ज्ञान ही सद्गुण है।

बुरा करने का मतलब है कि उसे अच्छाई का ज्ञान नहीं है। पुन: यदि किसी को ज्ञान नहीं है तो फिर वह नैतिक नहीं हो सकता है। यदि वह नैतिक होगा भी मात्र आकस्मिक रूप से होगा। वह सदैव नैतिक नहीं होगा क्योंकि उसे ज्ञान नहीं है।

सुकरात के अनुसार- व्यक्ति ज्ञान के अभाव में भला काम नहीं कर सकता। जिस पुरूष को शुभ-अशुभ का ज्ञान नहीं है उसका कर्म लाभदायक या हानिकारक हो सकता है, शुभ व अशुभ नहीं हो सकता। अच्छा बनने के लिए अच्छाई का ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है। ज्ञान ही आत्मा का विशेष गुण है। इसके अभाव में ही व्यक्ति दुष्कर्मों में संलग्न होता है।

व्यक्ति की दु:ख के प्रति स्वाभाविक अनिच्छा होती है। दु:ख प्राप्ति अशुभ कर्मों के कारण होती है। अत: व्यक्ति अशुभ कर्मों के प्रति स्वभावत: अनिच्छुक होता है परन्तु फिर भी वह अपने जीवन में अशुभ कर्मों का संपादन करता है। अत: अशुभ कर्मों के प्रति अनिच्छा होने मात्र से वह भला नहीं हो सकता क्योंकि शुभ कर्मों के ज्ञान के अभाव के लिए वह स्वयं उत्तरदायी है। यदि वह चाहता तो सद्गुणों का ज्ञान प्राप्त कर शुभ कर्म कर सकता था।

ज्ञान सद्गुण है (Knowledge is Virtue)

ग्रीक दार्शनिक सुकरात मतानुसार ज्ञान ही सद्गुण है। जो व्यक्ति ज्ञानवान अथवा विवेकशील होता है वह सद्गुणी होता है, सदैव सदाचरण करता है क्योंकि ज्ञान दृढ़ विश्वास के रूप में होता है। विवेकशील व्यक्ति यह जानता है कि स्थायी सुख सद्गुण द्वारा ही प्राप्त होता है। अत: सदैव सदाचारी होता है।

अविवेकशील व्यक्ति अथवा अज्ञानी व्यक्ति कभी सद्गुणी नहीं होता। अज्ञान के कारण अस्थायी सुखों को वह स्थायी सुख मान बैठता है। क्षणिक सुखों की प्राप्ति के लिये वह दुराचरण करता है। सुकरात के उपरोक्त मत से निम्नांकित बिन्दु फलित होते हैं।

सुकरात के अनुसार ज्ञान इन्द्रियजन्य या प्रतीति रूप न होकर बौद्धिक एवं प्रत्ययात्मक है। इसी कारण वह विशेष न होकर सामान्य होता है। परिणामत: सुकरात व्यक्तिगत सुख की बजाय सामान्य सुख अर्थात सद्गुण को नैतिकता का मानदण्ड मानते हैं। सुकरात सदाचरण हेतु सद्गुणों का ज्ञान आवश्यक मानते हैं।

इनके अनुसार ***ज्ञान सद्गुण है अर्थात् जिस व्यक्ति को ज्ञान/विवेक है वह सदैव अपने आचरण में सद्गुण गों को व्यक्त करेगा क्योंकि–***

1. ज्ञान दृढ़ विश्वास के रूप में होता है जिसकी अभिव्यक्ति व्यक्ति के चरित्र में अपरिहार्य रूप से होती है।
2. ***ज्ञान व सद्गुण में अभेद संबंध है। व्यक्ति सद्गुणों के ज्ञान के बिना सद्कर्मों का संपादन नहीं कर सकता। ज्ञान सद्गुण हेतु आवश्यक एवं पर्याप्त शर्त है। इसी संदर्भ में कहा जाता है कि ज्ञान ही सद्गुण है। दोनों सार्वभौम, बुद्धिआधारित एवं शिक्षणीय है।***
3. ज्ञान का स्वरूप ही ऐसा है कि वह मानव आचरण में ही व्यक्ति होगा। आचरण में अभिव्यक्त होने पर ही हम यह जानते हैं कि अमुक व्यक्ति को सद्गुणों का ज्ञान है।

सुकरात के अनुसार- ज्ञान व तद्नुरूप आचरण में अभेद संबंध है। व्यक्ति सद्गुणों के ज्ञान के बिना सद्कर्मों का सम्पादन नहीं कर सकता। अब यदि कोई व्यक्ति दुष्कर्मों का सम्पादन कर रहा है तो वह अवश्य ही अज्ञानी होगा। स्पष्ट है कि सुकरातानुसार ज्ञान सद्गुण के लिए आवश्यक एवं पर्याप्त शर्त है। इस प्रकार वे ज्ञान और आचरण के गठबंधन को नैतिकता का उत्कर्ष मानते हैं। इसी संदर्भ में यह कहा जाता है कि—

"ज्ञान ही सद्गुण है व ज्ञान ही सद्गुण हैं-"

दोनों एकरूप, सार्वभौम, बुद्धि आधारित, शिक्षणीय, अविभाज्य एवं अपरिवर्तनशील हैं।

संक्षेप में-

ज्ञान → सद्गुण → सदाचरण → बौद्धिक सुख की प्राप्ति → सामान्य सुख → सार्वभौमता

अज्ञान → दुर्गुण → दुष्कर्म → इन्द्रिय सुख → व्यक्ति सापेक्ष → अव्यवस्था का जन्म

ज्ञान ही सभी नैतिक कर्मों का आधार है।

यदि किसी मनुष्य को शुभ का ज्ञान है तो वह उसे प्राप्त करेगा या प्राप्त करने का प्रयास करेगा। वह शुभ कर्म अवश्य करेगा बुरा नहीं करेगा, इसलिए ज्ञान सद्गुणों का आधार है। कोई भी व्यक्ति बुराई को जानते हुए भी बुराई की इच्छा नहीं करता और न बुराई करता है।

यदि किसी व्यक्ति को शुभ का ज्ञान नहीं है तो वह दुष्ट होने से नहीं बच सकता। ज्ञानाभाव में अच्छा काम नहीं कर सकता। कोई व्यक्ति जानबूझकर दुर्गुणी नहीं बनता। ये तो उसके अज्ञान का परिणाम है।

अत: ज्ञान ही व्यक्ति को नैतिक बनाता है। कोई व्यक्ति आकस्मिक रूप से नैतिक नहीं हो सकता। ज्ञान सद्गुणों का मूलाधार है जबकि अज्ञान दुष्कर्मों एवं बुराई का मूल आधार है।

आलोचना

अरस्तू के अनुसार ज्ञान सद्गुण के लिए आवश्यक तो हैं कि किन्तु पर्याप्त नहीं है। सद्गुण क लिए ज्ञान के अनुसार अभ्यास करना भी आवश्यक है। अभ्यास के बिना सद्गुण की प्राप्ति नहीं हो सकती।

यदि व्यक्ति अपनी भावनाओं, इच्छाओं तथा वासनाओं पर निरन्तर नियंत्रण रखता है तो संयम नामक सद्गुण उसके चरित्र का अभिन्न अंग बन जाता है। इस प्रकार ज्ञानवान व्यक्ति अभ्यास के द्वारा सद्गुण की उपलब्धि कर लेता है। अत: सद्गुण की उपलब्धि ज्ञान और अभ्यास द्वारा होती है।

NOTES

1. अच्छाई एवं बुराई का भेद जानते हुए भी मनुष्य कई बार बुरा कर्म करता है।
2. ज्ञानी होने पर भी कुछ संदर्भों में उसकी अभिव्यक्ति नैतिक जीवन में नहीं भी हो सकता। जैसे- धूम्रपान।
3. आचरण प्रवृत्ति पर भी निर्भर करता है और कुछ संदर्भों में प्रवृत्ति ज्ञान से असंबंधित हो सकती है।
4. सुकरात के सद्गुणों की एकता मानी है परन्तु सबको एकबद्ध करना कठिन है। संभव है कोई न्यायप्रिय व्यक्ति साहसी न हो।
5. सुकरात सद्गुण व शुभ में स्पष्ट भेद नहीं करते हैं।
6. सुकरात ने सद्गुणों का संबंध आध्यात्मिक अमरता से जोड़ा है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह स्वीकार्य नहीं है।

संदेश: *ज्ञान व आचरण में अनुरूपता रहनी चाहिए ताकि समाज शांतिपूर्ण, संयमित, व्यवस्थित व आनन्दपूर्ण हो सके।*

अरस्तू के अनुसार सद्गुण : *अरस्तू के अनुसार सद्गुण दो अतियों के बीच के मार्ग अर्थात् मध्यम मार्ग को ग्रहण करने का का अभ्यास है। जैसे* ***साहस*** *एक सद्गुण है और यह कायरता एवं उदण्डता के मध्य की स्वर्णिम अवस्था (Golden Mean) है।* ***आत्म-सम्मान*** *आत्म निंदा एवं आत्म-प्रशंसा का स्वर्णिम मध्य है।*

प्लेटो का मुख्य सद्गुण (Cardinal Virtues of Plato)

ग्रीक दार्शनिक प्लेटो अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' में 'कार्डिनल' की बात करते है। कार्डिनल का शाब्दिक अर्थ है-कब्जा, चूल या सहारा देने वाला। आशय है कि जो नैतिक जीवन को सहारा देते है एवं गतिशील बनाते है वे कार्डिनल है। यहाँ प्लेटो ने चार प्रकार के सद्गुण माने है- ये हैं- विवेक, साहस, संयम एवं न्याय। न्याय प्रधान एवं सर्वोच्च सद्गुण है। इसमें अन्य तीनों सद्गुणों का सामंजस्य एवं समन्वय होता है।

चूंकि सद्गुण प्रत्यय या विज्ञान रूप है, अत: इनका ज्ञान बुद्धि से प्राप्त होता है।

- प्लेटो ने अपने ग्रन्थ ***'रिपब्लिक'*** में न्याय की अवधारणा पर विस्तार से विचार किया है।
- प्लेटो ने अपने ग्रन्थ 'रिपब्लिक' में *दार्शनिक राजा* की बात की है। इनके अनुसार आदर्श राज्य में न्याय की उपलब्धि विशुद्ध विवेक से सम्पन्न परम सत्य के ज्ञाता दार्शनिकों के संरक्षण में हो सकती है, जहाँ वासना प्रधान उत्पादक वर्ग और शौर्य प्रधान शासक वर्ग के ऊपर शुद्ध एवं निर्लिप्त बुद्धि से सम्पन्न दार्शनिक का पूर्ण नियत्रंण हो।

  न्याय क्या है: प्लेटो के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति या प्रत्येक वर्ग का अपने स्वाभाविक योग्यता के अनुरूप, अपने निश्चित स्थान में निश्चित कार्य का सम्पादन करना तथा दूसरों के कर्त्तव्यों में हस्तक्षेप न करना ही न्याय है। इस प्रकार प्लेटो का न्याय स्वकर्त्तव्य पालन एवं अहस्तक्षेप के सिद्धांत का समर्थन करता है।
- प्लेटो ने अपने ग्रंथ (रिपब्लिक) को न्याय विषयक ग्रन्थ कहा है, क्योंकि रिपब्लिक का प्रारंभ एवं अन्त न्याय-सिद्धांत से होता है।

प्लेटो के सामाजिक, राजनीतिक विवेचन का सबसे प्रमुख विचार उनका न्याय विचार है। प्लेटो ने न्याय को व्यक्ति और राज्य दोनों के ***प्रथम सद्गुण*** (*virtue*) के रूप में मान्यता दी है, अर्थात् न्याय ही व्यक्ति और राज्य दोनों की सबसे प्रमुख विशेषता और सर्वाधिक प्राप्य आदर्श है। न्याय सर्वोपरि सद्गुण है, क्योंकि यह अन्य सभी सद्गुणों के मध्य आंतरिक सामंजस्य एवं संतुलन को बनाये रखता है।

प्लेटो ने न्याय की व्याख्या कानूनी आधार पर न करके नैतिक आधार पर की है। यहाँ न्याय व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के आधारभूत सद्गुण के रूप में स्वीकृत है। इसी कारण प्लेटो के दर्शन में 'न्याय' शब्द मूलत: कर्त्तव्य-पालन के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। कानूनत: न्याय वाह्य आरोपित शक्तियों से बाधित होता है। इसमें व्यक्ति नैतिकता का पालन वाह्य दबावों के कारण करता है, जबकि प्लेटो के दर्शन में न्याय अन्तरात्मा की आवाज है। यहाँ प्लेटो के इस न्याय की ***तुलना गीता के स्वधर्म पालन से*** की जा सकती है, जिसका तात्पर्य है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह किसी वर्ण से संबंधित हो, स्वेच्छापूर्वक अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए।

प्लेटो के अनुसार न्याय के दो पक्ष हैं-

(i) व्यक्ति के लिए न्याय या (व्यक्तिगत) (ii) समाज के लिए न्याय (सामाजिक)

प्लेटो के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में तीन प्रकार के गुण पाये जाते हैं। ये हैं-

(a) विवेक (ज्ञान) (b) साहस (वीरता) (c) संयम

प्लेटो इन्हें ही मानवीय सद्‌गुण कहते हैं।

(i) **व्यक्ति के संदर्भ में न्याय :** यहाँ न्याय का तात्पर्य है कि व्यक्ति की आत्मा में इन तीनों गुणों का उचित मात्रा में समन्वय होना चाहिए। प्लेटो व्यक्ति के संदर्भ में न्याय को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि- "न्याय मानव आत्मा की उचित अवस्था है। व्यक्ति द्वारा अपने गुण के अनुसार अपने कर्त्तव्य का पालन करना ही न्याय कहलाता है।'' संक्षेप में, अपने-अपने स्वभाव के अनुसार तद्नुरूप कार्य करना ही प्लेटो के अनुसार न्याय है। इस रूप में प्लेटो का यह मानना है कि- ''एक व्यक्ति को केवल एक ही ऐसा कार्य करना चाहिए जो उसके प्रकृति तथा स्वभाव के सर्वथा अनुकूल हो।"

(ii) **समाज (राज्य) के लिए न्याय :** प्लेटो के अनुसार ***राज्य व्यक्ति का ही वृहत् रूप*** है। व्यक्ति की आत्मा में जो तीन गुण पाए जाते हैं, राज्य में उसका प्रतिनिधित्व तीन वर्ग करते हैं। जैसे- बुद्धिमता का प्रतिनिधित्व शासक वर्ग, साहस का प्रतिनिधित्व योद्धा या सैनिक वर्ग और तृष्णा का प्रतिनिधित्व उत्पादक वर्ग करते हैं। प्लेटो का मानना है कि राज्य के संदर्भ में न्याय का अर्थ है- राज्य के तीनों वर्गों द्वारा उनके लिए कर्त्तव्यों का पालन करना और दूसरे वर्ग के कार्यों में हस्तक्षेप न करना। उदाहरणस्वरूप योद्धा वर्ग के सदस्य को केवल राज्य की सुरक्षा से संबंधित कार्य करना चाहिए और उसे शासन संचालन या उत्पादन प्रक्रिया में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इस प्रकार हम यहाँ यह कह सकते हैं कि प्लेटो के अनुसार न्याय का तात्पर्य अपने स्वाभावानुरूप कार्यों का सम्पादन कर परस्पर सामंजस्य बनाए रखना है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर दार्शनिकों ने प्लेटो के न्याय संबंधी विचार की कुछ विशेषताओं का विवेचन किया है-

(i) प्लेटो का न्याय सिद्धान्त ***कार्यात्मक विशिष्टिकरण*** के सिद्धान्त पर आधारित है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक वर्ग का अपना विशिष्ट कार्य एवं स्थान है जिसके अनुसार वह कार्य करते हुए वह अपनी उन्नति और विकास करता है तथा सामाजिक उन्नति में भी सहायक होता है।

शासक वर्ग	योद्धा वर्ग	उत्पादक वर्ग
↑	↑	↑
शासन का कार्य	रक्षा का कार्य	उत्पादन का कार्य

(ii) ***प्लेटो का न्याय अहस्तक्षेप नीति का सिद्धान्त है।*** इसमें समाज के तीनों वर्ग (दार्शनिक, सैनिक एवं उत्पादक) अपनी-अपनी प्राकृतिक योग्यताओं, क्षमताओं और प्रशिक्षण के के अनुसार अपने-अपने क्षेत्र में कार्य करता है, उसी में निपुणता और कुशलता प्राप्त करता है तथा दूसरे वर्ग के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करता है। ऐसी स्थिति में समाज में न्याय का आविर्भाव होता है तथा समाज के विभिन्न वर्गों के बीच समन्वय और संतुलन बना रहता है।

(iii) प्लेटो का न्याय आत्मसंयम का सिद्धान्त है। प्लेटो अपने न्याय सिद्धान्त द्वारा राज्य के विभिन्न वर्गों एवं आत्मा के विभिन्न गुणों में सामंजस्य एवं एकता बनाए रखना चाहते हैं। प्लेटो की न्याय संबंधी अवधारणा कानूनी अवधारणा न होकर एक नैतिक अवधारणा है।

(iv) प्लेटो का न्याय सिद्धान्त रचनात्मक भी है। यहाँ समाज के विभिन्न वर्गों में संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया गया है। राज्य विभिन्न प्रकार के निर्माणकारी घटकों के बीच घनिष्ट संबंध बनाए रखते हैं।

आलोचना

(i) आलोचकों के अनुसार प्लेटो का न्याय सिद्धान्त वास्तव में न्याय सिद्धान्त नहीं है। यह केवल कर्त्तव्य पालन से संबंधित एक नैतिक व्यवस्था है। बार्कर के अनुसार प्लेटो के न्याय में न्याय के कानूनी पक्ष की अवहेलना की गई है।

NOTES

(ii) प्लेटो का न्याय सिद्धान्त भेदमूलक एवं कुलीनतावादी है। प्लेटो समाज का विभाजन तीन असमान वर्गों में करते हैं। प्रजातांत्रिक दृष्टि से यह अनुकूल नहीं है।

(iv) आलोचक यह भी मानते हैं कि प्लेटो का न्याय सिद्धान्त तानाशाही या सर्वाधिकारवाद का मार्ग प्रशस्त करता है। आधुनिक समकालीन विचारक कार्ल पोपर के अनुसार प्लेटो ने अपने न्याय सिद्धान्त में शासक वर्ग को ज्ञान का प्रतिनिधि मान लिया है। ऐसी स्थिति में शासक वर्ग के निर्णय को सदैव सही माना जाएगा। उस पर किसी भी प्रकार का नियंत्रण नहीं हो पाता है।

(v) अरस्तू के अनुसार प्लेटो का न्याय सिद्धान्त 'अत्यधिक एकीकरण' और 'अत्यधिक पृथक्कीरण' की भावना पर आधारित हैं। इससे एकता की स्थापना करने में कठिनाई होती है।

महत्व

(i) प्लेटो ऐसे प्रथम दार्शनिक हैं जिन्होंने न्याय का एक सुव्यवस्थित सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इनके पूर्व प्रचलित कोई सिद्धान्त व्यवस्थित एवं तर्कसंगत नहीं हैं।

(ii) प्लेटो ने न्याय को व्यक्ति एवं राज्य दोनों से जोड़कर उसे व्यापक रूप प्रदान किया।

अरस्तू का नैतिक विचार

नीतिशास्त्र के अंतर्गत

1. जीवन का परम ध्येय क्या है- इस पर ***विचार*** किया जाता है।
2. परम ध्येय की प्राप्ति हेतु मनुष्य को किन सद्गुणों का आश्रय लेना चाहिए- इसकी ***खोज*** की जाती है।

अरस्तू मतानुसार जीवन का परम शुभ या परम ध्येय आनंद (*Happiness*) की प्राप्ति है। अरस्तू अपने नीतिशास्त्र में यही बताने का प्रयास करते हैं कि मनुष्य किस प्रकार वास्तव में आनंद की प्राप्ति कर सकता है।

अरस्तू जीवात्मा के तीन प्रकार मानते हैं- 1. वनस्पति-आत्मा, 2. पशु-आत्मा, 3. मानव-आत्मा

सबकी अपनी कुछ विशेषताएं है।

मानव आत्मा की मुख्य विशेषता उसकी ***विवेकशीलता*** है। अत: विवेक के अनुसार कार्य करना मनुष्य का परम शुभ है और यही मानव को सही अर्थों में आनंद प्रदान करने में सक्षम है। इसलिए ***नैतिकता विवेकपूर्ण जीवन में निहित होती है।*** विवेकशीलता नैतिक जीवन हेतु अपरिहार्य शर्त है।

मानव आत्मा में केवल विवेक ही नहीं होता बल्कि उनमें वनस्पतियों एवं पशुओं के गुण भी सम्मिलित होते है। मनुष्य को विवेक के अतिरिक्त वनस्पतियों के समान पोषण और प्रजनन की आवश्यकता होती है और पशुओं के समान वह संवेदन और गति से भी युक्त होता है।

इसीलिए अरस्तू मानव आत्मा को दो भागों में बांटते हैं-

1. **अबौद्धिक भाग (*Irrational Part*):** इसमें भूख का साम्राज्य होता है, भावनाओं की प्रबलता होती है।
2. **बौद्धिक भाग (*Rational Part*):** इसमें विवेक की प्रमुखता होती है।

इनमें बौद्धिक भाग अधिक महत्वपूर्ण है। इसी कारण मनुष्य, मनुष्य है। अरस्तू का कथन है- 'मनुष्य एक बौद्धिक प्राणी है। (*Man is a rational animal*)' अरस्तू के अनुसार नैतिक जीवन यापन के लिए दोनों भागों में सहयोग होना चाहिए। यहां भावनाएं मैटर है जबकि बुद्धि या विवेक को अरस्तू आकार कहते हैं। जिस प्रकार आकार के लिए सामग्री अपेक्षित है। उसी प्रकार बुद्धि के लिए भावनाएं आवश्यक है। ***बुद्धि के द्वारा भावनाओं पर नियंत्रण संभव है।*** इस रूप में नीति का संबंध उस मनुष्य से जो सामाजिक प्राणी है, जो भावनाओं से युक्त है। इस प्रकार नीति का उद्देश्य इसकी खोज करना है कि बुद्धि और भावनाओं से युक्त व्यक्ति किस प्रकार सर्वोत्तम जीवन जी सकता है।

प्रश्न: कौन सा कर्म नीतियुक्त है। इसका निर्णय बुद्धि किस प्रकार करें।

प्रश्न: क्या ज्ञान मात्र से व्यक्ति नैतिक बन सकता है, जैसा कि सुकरात मानते हैं।

प्रथम प्रश्न का उत्तर- अरस्तू मध्यम मार्ग (Golden Mean) का सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं।

दूसरे प्रश्न का उत्तर- नैतिक जीवन के लिए अभ्यास के महत्व का प्रतिपादन।

मध्यम मार्ग: दो अतियों के बीच का मार्ग ही मध्यम मार्ग है। संस्कृत में एक सुभाषित वाक्य है- 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' अर्थात् अति से हमेशा बचना चाहिए। अरस्तू के मध्यम मार्ग का यही अर्थ है। अरस्तू के अनुसार दो अतियों के बीच का मध्यम मार्ग है। यहां दोनों अतियों दुर्गुण है।

अरस्तू के दर्शन में दो अतियों के बीच के रूप में सदगुण की विवेचना (Aristotle's Analysis of Virtue as the Mean Between Extremes)			
क्रियाकलाप या भाव का क्षेत्र Sphere of action or feeling	अत्यधिक विपुलता (दुर्गुण) Excess (vice)	मध्यम मार्ग (सद्गुण) Mean (virtue)	अत्यधिक कमी (दुर्गुण) Deficiency (vice)
खतरे का सामना Confidence in facing danger	आतुरता/उतावलापन Rashness	साहस Courage	डरपोकपन Cowardice
सुख-दुख Pleasure and pain	उदण्डता Licentiousness	संयम Temperance	संवेदनहीनता Insensibility
खर्च करना spending	फिजूलखर्ची Prodigality	उदारता Liberality	कंजूसी Stinginess
आत्म-अभिव्यक्ति Self-expression	आत्मप्रशंसा Boastfulness	आत्मसम्मान Self-Honesty	आत्मनिंदा Self-deprecation
सामाजिक व्यवहार Social conduct	चापलूसी Obsequiousness or flattery	मित्रता Friendliness	झगड़ालूपन Cantankerousness

प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही अपने लिए मध्यम मार्ग का निर्धारण समय और परिस्थिति के अनुसार करता है। इसके लिए व्यक्ति को अपनी अंतर्दृष्टि की भी सहायता लेनी चाहिए। ऐसे व्यक्तियों को अरस्तू सही दिमाग का व्यक्ति *(Right Minded Man)* कहते हैं।

जीवन में मध्यम मार्ग को अपनाने वाला व्यक्ति आनंदमय जीवन व्यतीत करता है। इस रूप में आनंद सदगुण का परिणाम है। एक सदगुणी व्यक्ति विपरीत परिस्थितियों में भी आनंद प्राप्त करता है।

अरस्तू चरित्र निर्माण हेतु अभ्यास पर विशेष बल देते हैं। मनुष्य की भावनाएं कई बार प्रबल हो जाती है और उन्हें लक्ष्य से भटकाती है। ऐसी स्थिति में केवल ज्ञान मात्र से सद्कर्मों का संपादन नहीं होता बल्कि इसके लिए लगातार अभ्यास की आवश्यकता होती है। सुकरात के 'ज्ञान ही सद्गुण है।' की अवधारणा का विरोध करते हुए अरस्तू कहते हैं कि- यद्यपि ज्ञान भी आवश्यक है परंतु सदगुण ज्ञान में नहीं बल्कि नीतियुक्त कार्य के अभ्यास में निहित है। अभ्यास से व्यक्ति को नीतियुक्त कर्म करने की आदत बन जाती है और इस प्रकार व्यक्ति परम लाभ की प्राप्ति कर सकता है। ***हम वैसे ही बन जाते है जैसा हम बार-बार काम करते हैं।*** अत: जीवन में सदाचार की दिशा में कार्य करना ही मनुष्य की अच्छाई है।

श्रेष्ठ पुरुष के बारे में अरस्तू की कुछ पंक्तियाँ उल्लेखनीय है:

वह अपने को निरर्थक खतरे में नहीं डालता किंतु भारी संकट के समय वह अपने प्राण देने को तैयार रहता है क्योंकि वह जानता है कि कुछ स्थितियों में जीवित रहना भी उचित नहीं है। वह लोगों की सेवा तो करता है परंतु अपनी सेवा कराने मे लज्जा का अनुभव करता है। किसी पर दया तो करता है क्योंकि दया करना श्रेष्ठता का द्योतक है किंतु किसी की दया स्वीकार नहीं करता है क्योंकि ऐसा करना अधीनता का लक्षण है............ वह कभी ईर्ष्या

नहीं करता.........वह दूसरों की बुराई नहीं करता, उसका व्यवहार शांत है। किंतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अरस्तू का श्रेष्ठ मानव अपने नफे-नुकसान से बेखबर रहता है। वह जीवन की घटनाओं को शान के साथ सहता है और एक बुद्धिमान सेनापति की भांति अपनी सीमित सेनाओं को युद्ध के सभी मोर्चों पर लगा देता है। वह परिस्थितियों से अधिक से अधिक लाभ उठता है।

अरस्तू का नैतिक मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहकर ही कोई व्यक्ति नैतिकता की ओर अग्रसर हो सकता है। ऐसा व्यक्ति जिसके लिए समाज में रहना आवश्यक नहीं है वह या तो देवता होता है या पशु।

अरस्तू का न्याय संबंधी मत

एक यथार्थवादी विचारक होने के नाते अरस्तू ने न्याय के आदर्श रूप की तुलना में उसके व्यावहारिक रूप पर विशेष बल दिया है। वे अरस्तू न्याय को मानवीय संबंधों के नियामक के रूप में स्वीकारते हैं। अरस्तू ने न्याय के प्रयोग क्षेत्र के आधार पर न्याय के दो सिद्धांत दिये हैं-

1. वितरणात्मक न्याय सिद्धान्त (Distributive Justice) 2. प्रतिवर्ती या प्रतिशोधनात्मक या प्रतीकारात्मक न्याय सिद्धान्त (Corrective or Rectificatory or Remedial Justice)

1. **वितरणात्मक न्याय सिद्धान्त (Distributive Justice):** अरस्तू वितरण न्याय के समर्थक थे। इसका संबंध सम्मान (Honour) या धन-संपदा (Wealth) के वितरण से है। इस सिद्धान्त के अनुसार समान लोगों के साथ समान बर्ताव होना चाहिए। समान एवं असमान के निर्धारण हेतु अरस्तू का मानना है कि प्रचलित कानून एवं प्रथाओं का सहारा लेना चाहिए। अरस्तू का मानना था कि पद-प्रतिष्ठा एवं धन-संपदा का वितरण अंकगणितीय रूप में न होकर ज्यामितीय अनुपात (Geometrical Proportion) में होना चाहिए। अरस्तू के इस वितरणामूलक न्याय का सार यह है कि- "जिस नागरिक ने जिस योग्यता एवं क्षमता के अनुसार राज्य की सेवा की है, राज्य के उद्देश्य पूर्ति में योगदान दिया है, उसी अनुपात में उसे राज्य में पद, सम्मान, पुरस्कार या लाभ प्राप्त होने चाहिए।" इस प्रकार यहाँ आनुपातिक समानता के आधार पर वितरण करने की बात कही गई है।

   स्पष्ट है कि सबको बराबर मात्रा में वितरण न करके प्रत्येक को उसकी योग्यतानुरूप आबंटन किया जाना चाहिए। योग्यता के मापदण्ड के रूप में अरस्तू सद्गुणों को स्वीकार करते हैं। अरस्तू के अनुसार योग्य एवं सक्षम व्यक्ति को यदि अधिक पाने से रोका जायेगा तो उसके अन्दर उत्पन्न असंतोष राज्य में विद्रोही धारणाओं को बढ़ावा देगा।

2. **प्रतिकारात्मक, सुधारात्मक या शोधक न्याय (Corrective or Rectificatory or Remedial Justice):** प्रतिकारात्मक न्याय का उद्देश्य नागरिकों के पारस्परिक संबंधों को नियंत्रित एवं नियमित कर अन्याय का प्रतिकार करना है। यह मूलत: सुधारात्मक होता है जिसमें किये गये अन्याय को सुधारा जाता है। अरस्तू के अनुसार प्रतिकारात्मक न्याय का संबंध नागरिकों के स्वैच्छिक एवं गैर-स्वैच्छिक संबंधों एवं व्यवहारों से है। स्वैच्छिक संबंधों का तात्पर्य है- समझौते पर आधारित ऐसे संबंध जिसमें संबंधित पक्षों की सहमति होती है। जैसे- लेन-देन के संबंध। गैर-स्वैच्छिक संबंधों से तात्पर्य वैसे संबंधों से है जिसमें संबंधित पक्ष की सहमति की आवश्यकता नहीं होती है। जैसे- चोरी-डकैती। स्वैच्छिक संबंधों से जुड़े हुए विषयों की तुलना आज के दीवानी मामलों से की जा सकती है। जबकि गैर-स्वैच्छिक संबंधों से जुड़े हुए विषयों की तुलना फौजदारी मामलों से की जा सकती है। प्रतिकारात्मक न्याय का उद्देश्य इन दोनों क्षेत्रों में हुई गलती को सुधारना है।

चूँकि इस न्याय में नागरिकों के पारस्परिक व्यवहार से उत्पन्न होने वाले दोषों को सुधारा जाता है, इसीलिए इसे शोधक न्याय (Corrective Justice) कहते हैं।

प्रतिकारात्मक न्याय की विशेषताएँ

(i) प्रतिकारात्मक न्याय में पूर्ण समानता का सिद्धान्त लागू किया जाता है अर्थात प्रत्येक व्यक्ति के साथ समान व्यवहार किया जाता है। यहाँ अरस्तू अंकगणितीय रूप को स्वीकारते हैं एवं लेन-देन के बीच योग्यता को आड़े नहीं आने देते। उनका मानना था कि लेन-देन एवं आपराधिक गतिविधियों में व्यक्ति के कृत्य को देखना चाहिए, योग्यता को नहीं।

(ii) यह अंकगणितीय आधार पर संचालित होता है और इसमें समान दूरी का सिद्धान्त लागू होता है अर्थात प्रत्येक व्यक्ति के साथ समान व्यवहार किया जाता है।

(iii) प्रतिकारात्मक न्याय न्यायाधीश का क्षेत्र है। इसे न्यायालयों द्वारा लागू किया जाता है।

(iv) इस न्याय का उद्देश्य व्यक्तियों के परस्पर व्यवहार में संतुलन स्थापित करना या बिगड़े हुए संतुलन को फिर से स्थापित करना है। अरस्तू का यह सिद्धान्त न्याय की आधुनिक अवधारणा के निकट दिखाई देता है।

इनका वितरण न्याय पूर्णतया यथास्थिति (Status Quo) के निकट दिखाई देता है। वहीं प्रतीकात्मक सिद्धान्त में वर्तमान स्थिति में बदलाव की बात स्वीकारी जाती है जो कुछ हद तक प्रगतिशीलता को स्वीकारे हुए है।

आलोचना

(i) आलोचकों के अनुसार अरस्तू की न्याय संबंधी अवधारणा कुलीनतावादी या विशिष्टवर्गीय है जिसका उद्देश्य समाज के धनी एवं परंपरागत रूप से सक्षम वर्गों के हितों की पूर्ति करना है।

(ii) वितरणमूलक न्याय में विरोधाभास है। यहाँ एक तरफ आनुपातिक समानता के आधार पर पदों का बंटवारा सभी नागरिकों में करने की बात की जाती है, दूसरी ओर सद्‌गुणी व्यक्ति कम होते हैं, सभी नहीं। अतः सिर्फ कुछ को सम्मान या पुरस्कार प्राप्त होगा, सभी को नहीं।

(iii) वितरणमूलक न्याय की अवधारणा को आधुनिक युग में व्यवहार में लाना कठिन है। इसका कारण है कि राज्य के नागरिकों के अनुपात में राजकीय पद इतने कम हैं कि वे अपने सभी नागरिकों को योग्यतानुसार पद प्रदान नहीं कर सकता है।

(iv) आधुनिक युग में योग्यता का अर्थ है तीव्र बुद्धि, जबकि अरस्तू की योग्यता का आशय सद्‌गुण या नैतिक चरित्र से है।

महत्वः

(i) अरस्तू पहले ऐसे प्रमुख दार्शनिक हैं जिन्होंने न्याय के सिद्धांतों को व्यावहारिक जगत में यथार्थ रूप में लागू करने का प्रयास किया।

(ii) अरस्तू द्वारा प्रतिपादित कुछ सिद्धान्त थोड़े भिन्न रूप में आज भी प्रासंगिक हैं। उदाहरणस्वरूप- स्वैच्छिक संबंधों की तुलना आज की दीवानी मामले और गैर-स्वैच्छिक संबंधों की तुलना फौजदारी मामले से की जाती है।

(iii) वितरणमूलक न्याय का सिद्धान्त भी थोड़े संशोधन के साथ वर्तमान में भी प्रयोग किया जाता है।

न्याय का उपयोगितावादी सिद्धान्त

डेविड ह्यूम, बेंथम, मिल आदि के द्वारा प्रस्तुत किया गया न्याय संबंधी मत उपयोगितावादी सिद्धान्त के रूप में जाना जाता है। ह्यूम के दर्शन में उपयोगितावाद की प्रारंभिक स्थिति दिखाई देती है, जब वे कहते हैं कि -''न्याय की उत्पत्ति का एकमात्र आधार सार्वजनिक उपयोगिता है।'' बेंथम ने इसकी स्पष्ट व्याख्या करते हुए कहा है कि केवल - "अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख ही समाज में सही और गलत तथा न्याय और अन्याय का मानदंड हो सकता है।" दूसरे शब्दों में, केवल उन्हीं नीतियों को न्यायसंगत माना जा सकता है जो अधिकतम सदस्यों के लिए अधिकतम सुख प्रदान करती है। बेंथम के अनुसार - भिन्न-भिन्न सुखों में गुणात्मक अन्तर न होकर केवल परिमाणात्मक अन्तर (Quantitative Difference) है।

जे.एस. मिल सुखों में परिमाणात्मक अन्तर के साथ-साथ उसकी गुणवता को भी महत्व देते हैं। उनके अनुसार, केवल उच्च चरित्र वाला व्यक्ति ही उच्च कोटि के सुख का अनुभव कर सकता है। यहाँ वे न्याय को वैयक्तिक स्वतंत्रता, अधिकार, मानव कल्याण से संबंधित नियमों और कानूनों से जोड़ते हैं।

न्याय के इस उपयोगितावादी सिद्धान्त की दो मुख्य विशेषताएँ हैं, जो उसे पहले के उदारवादी न्याय सिद्धान्तों से भिन्न बनाती हैं-

1. न्याय का उद्देश्य ईश्वरीय, दैवी या प्राकृतिक नहीं थे। सुख, भलाई, कल्याण आदि की धारणाएँ व्यक्ति के भौतिक एवं दैनिक जीवन से संबंधित है।

2. परम्परागत रीति-रिवाजों एवं कानूनों को मानवीय विकास एवं मानवीय हित के संदर्भ में ही उचित या अनुचित कहा जा सकता है।

NOTES

हिपोक्रेटिक्स (460 BC से 377 BC)

प्लेटो के समकालीन हिपोक्रेटिक्स को '*चिकित्साशास्त्र के जनक*' (Father of Medicine) के रूप में जाना जाता है। वे प्रसिद्ध ग्रीक चिकित्सक थे।

हिपोक्रेटिक्स शपथ (Hippocratic Oath): यह दो मुख्य वर्गों में विभक्त है-

प्रथम भाग में फिजीशियन का अपने छात्रों के प्रति दायित्व एवं कृतज्ञता तथा जनता के प्रति उसके कर्तव्यों को बताया गया है।

दूसरे भाग में यह बताया गया है कि उसे लाभदायक उपचार करना चाहिए और किसी भी प्रकार की हानि करने से बचना चाहिए।

यह शपथ प्रत्येक चिकित्सक तथा चिकित्सा व्यवसाय से जुड़े अन्य व्यक्तियों द्वारा इस व्यवसाय को अपनाने से पहले ली जाती है ताकि वे व्यावसायिक नैतिकता (Business Ethics) का पालन कर सके। यह चिकित्सीय नीतिशास्त्र (Medical Ethics) में नैतिकता के मानदंड के रूप में स्वीकार किया जाता है।

1. जिस अध्यापक ने मुझे यह कला सिखायी है मैं उनका अपने माता-पिता के समान आदर करूँगा एवं समुचित ध्यान रखूँगा।
2. मैं अपनी संपूर्ण योग्यता के साथ अपने मरीजों को वहीं सलाह दूंगा जो उसके सर्वश्रेष्ठ हित में हो और कोशिश करूंगा कि मेरे किसी सलाह से उन्हें नुकसान न पहुंचे।
3. किसी व्यक्ति द्वारा मांगे जाने पर भी उसे कोई ऐसी दवाई नहीं दूंगा जिससे जीवन समाप्त हो जाता हो, ना ही किसी को ऐसी सलाह दूंगा।
4. किसी भी महिला को ऐसी दवाई नहीं दूंगा जिससे गर्भपात होता हो।
5. किसी भी व्यक्ति के शरीर पर शल्य चिकित्सा प्रयोग नहीं करूंगा चाहे मैं रोग स्पष्ट रूप से जानता हूं। मैं यह कार्य उनके लिए छोड़ दूंगा जो इस क्षेत्र के विशेषज्ञ है।
6. मैं जिस किसी रोगी के घर जाऊँगा उसके लाभ के लिए ही काम करूँगा। हर तरह के बुरे काम से, खासकर स्त्रियों और पुरुषों के साथ लैंगिक संबंध रखने से दूर रहूँगा, फिर चाहे वे गुलाम हों या नहीं।
7. किसी मरीज के साथ बात करते हुए मुझे उसके बारे में जो गोपनीय सूचनाएं प्राप्त होगी उसकी गोपनीयता को बनाये रखूँगा और किसी भी स्थिति में सार्वजनिक नहीं करूँगा।
8. अपने जीवन एवं अपने कला की पवित्रता की रक्षा करूँगा।
9. यदि मैं इस शपथ का पालन करता हूँ तो ही मैं लोगों द्वारा सम्मान का अधिकारी हूँ।
10. अगर मैं इसकी अवहेलना करता हूँ और कसम तोड़ता हूँ तो मेरे साथ इसका विपरीत किया जाए।

कनफ्युशियस (551 BC से 458 BC)

प्रसिद्ध चीनी दार्शनिक, नैतिक विचारक, समाज सुधारक, धर्म प्रर्वतक एवं शिक्षक

- सादा जीवन उच्च विचार के जीवन दर्शन पर बल।

प्रमुख पुस्तकें

- *The Book of Records:* शासन संबंधी नियमों का उल्लेख है।
- *The Book of Odes:* इन पुस्तकों में नैतिक नियमों का उल्लेख है।
- *The Spring of Autumn Anals:* राजनैतिक नैतिकता की विवेचना है।

कनफ्युशियस एक मानववादी विचारक हैं। यहाँ मानव को सर्वोपरि माना गया है तथा मानव से मानव के प्रेम पर विशेष बल दिया गया है। उन्होंने मनुष्य के कर्तव्य और आचरण पर विशेष बल दिया है। नैतिकता के पालन से ही समाजिक सुरक्षा और व्यवस्था बनी रहती है। इनके अनुसार धार्मिक होने का आशय वस्तुत: नैतिक होना है। धर्म

को जब तक आचरण के स्तर पर संपादित नहीं किया जाए तब तक वह सच्चे अर्थों में धर्म नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टिकोण से कनफ्युशियस धर्म एक आचरण-मूलक धर्म है।

कनफ्युशियस के अनुसार नैतिक व्यक्ति धैर्य, सद्भावना, दया, प्रेम, क्षमा, परोपकार आदि गुणों से युक्त होता है। उसका जीवन बाहरी आंडबरों से युक्त नहीं होता। उनके अनुसार नैतिक जीवन के संचालन के पांच मूल सिद्धांत हैं, ये हैं-

1. जेन (Jen) अर्थात् मानवतावाद
2. यी (Yi) अर्थात् न्यायशीलता
3. ली (Li) अर्थात् परोपकार
4. ची (Chi) अर्थात् बुद्धिमता
5. जन (Zun) अर्थात् सत्यवादिता

इस धर्म का एक बड़ा ही ***प्रसिद्ध सूत्र*** है कि- ***'जिस कार्य (व्यवहार) को हम अपने लिए नहीं चाहते उसे दूसरों के प्रति नहीं करना चाहिए (What you do not want done to yourself, do not do to others)'*** यह सिद्धांत पांच प्रकार के संबंधों (सामाजिक संबंध) में प्रयुक्त होता है-

1. शासक और प्रजा
2. पिता और पुत्र
3. पति और पत्नी
4. बड़े भाई और छोटे भाई
5. मित्र तथा मित्र के बीच संबंध।

इनके पारस्परिक व्यवहार के संदर्भ में आचार-संहिता का निर्माण किया।

इस प्रकार यह धर्म पूर्णतया नैतिक तथा सामाजिक वयवस्था का एक रूप है।

शिक्षा का लक्ष्य: शिक्षा का लक्ष्य आदर्श मानव को तैयार करना है। ऐसा शिक्षा की उचित व्यवस्था द्वारा हो सकता है। ***बुद्धि, साहस और सद्भावना आदर्श मानव के तीन गुण है।*** शिक्षा द्वारा मानव अपने दोष को देखने लायक बनता है। उसमें यह क्षमता आती है कि वह विवेकी बने और अपनी खामियों के संबंध में विवेकपूर्ण बुद्धि से विचार करे, साहस द्वारा उस त्रुटियों पर विजय पाने की कोशिश करे। बुद्धि और साहस का प्रयोग वह जनहित में तभी करेगा जब उसके अंदर सद्भावना हो अर्थात् मानव कल्याण की चाह हो। इस रूप में वे शिक्षा के माध्यम से चारित्रिक उन्नयन एवं नैतिक विकास पर बल देते हैं। आज के प्रशासक में भी बुद्धि और साहस के साथ-साथ सद्भावना की आवश्यकता है।

'विश्व इतिहास की झलक' में कनफ्युशियस के योगदान को स्पष्ट करते हुए नेहरू कहते हैं कि कनफ्युशियस और लाओ-त्से ने नैतिकता और सामाजिक व्यवहार के नियम बनाये और लोगों को यह बताया कि आदमी को क्या करना चाहिए और क्या नहीं? कनफ्युशियस की शिक्षा का यह परिणाम हुआ कि उसने चीनियों को विनम्रशील, शिष्टाचारी और सुसंस्कृत बना दिया।

सुखवाद (Hedonism)

सुख को ही जीवन का चरम लक्ष्य माननेवाला सिद्धान्त सुखवाद कहलाता है। सुखवाद के अनुसार मानव जीवन का एकमात्र साध्य सुख प्राप्त करना है। सुख ही मनुष्य के प्रत्येक ऐच्छिक कर्म का विषय है। प्रत्येक मनुष्य सुख या अधिक से अधिक सुख प्राप्त करना चाहता है और विपरीततः दुःख या अधिक से अधिक दुःख को छोड़ना चाहता है। जो कार्य सुखद होता है वही अच्छा है और जो कार्य दुःखद होता है वही बुरा है। इस प्रकार सुख अच्छे और बुरे का प्रतिमान (मानदंड) है।

पश्चिम में सुखवाद के जन्मदाता यूनान के ***अरिस्टिपस*** थे। वे सिरेने के निवासी थे। इसीलिए जिस संप्रदाय की उन्होंने स्थापना की, उसे ***सिरेनाइक*** (Cyrenaics) मत कहा जाता है। यही मत सुखवाद का पहला संस्करण है।

सुख की प्राप्ति तब होती है, जब हमारी इच्छा या वासना पूर्ण होती है, तो इसे भावना प्रधान कहा जाता है। इसके दो रूप हैं-

मनोवैज्ञानिक सुखवाद- मनोवैज्ञानिक सुखवाद मानव स्वभाव पर आधारित है। मनोवैज्ञानिक सुखवादियों ने मानव

NOTES

प्रकृति का विशेषत: इच्छा और भावना का विश्लेषण किया और यह निष्कर्ष निकला कि मनुष्य की सभी इच्छाओं का स्वाभाविक विषय सुख की भावना है। सुख-भावना इच्छाओं का विषय होने के अतिरिक्त सभी ऐच्छिक क्रियाओं की प्रवृत्ति या प्रेरणा भी है। मनुष्य की इच्छा या भावना की इस सुखवादी भावना को 'मनोवैज्ञानिक सुखवाद' (Psychological Hedonism) कहा जाता है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद के अनुसार मनुष्य स्वभावत: सुख की खोज करता है। सुख ही मनुष्य के कर्मों का स्वाभाविक एवं सामान्य लक्ष्य है। तथ्यात्मक स्थिति है। (The sole object of human desire is pleasure.)

नैतिक सुखवाद (Ethical Hedonism) : मनुष्य को सुख की खोज करनी चाहिए। हमारा परमश्रेय सुख है, यह आदर्शात्मक सुख है।

नैतिक सुखवाद मनुष्य के कर्त्तव्य का निर्धारण करने के लिये सुख को एकमात्र अनिवार्य मानदण्ड मानता है।

नैतिक सुखवाद के अनुसार– 'मनुष्य के सुख में सहायक प्रत्येक कर्म शुभ तथा उसके सुख में बाधक प्रत्येक कर्म अशुभ हैं। सुख ही अपने आप में शुभ तथा वांछनीय हैं और दु:ख अपने आप में अशुभ या अवांछनीय हैं।'

इस सिद्धान्त के मुताबिक–

1. प्रत्येक सुखद अनुभव अपने आप में शुभ तथा वांछनीय है।
2. प्रत्येक दु:खद अनुभव अपने आप में अशुभ तथा अवांछनीय हैं।
3. दो अनुभवों में से जो अधिक सुखद है, वह अपने आप में अशुभ या अवांछनीय हैं।

'सुख या दु:ख के अतिरिक्त कुछ भी अपने आप में शुभ और अशुभ नहीं है।'

उपयोगितावाद (Utilitarianism)

उपयोगितावाद वह परिणाम सापेक्ष नैतिक सिद्धांत है जिसके अनुसार 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख ही नैतिकता का मानदण्ड है' अर्थात् जो कर्म इस लक्ष्य की सिद्धि में सहायक है वह कर्म उचित है और जो इसमें बाधक है वह अनुचित है।

चूँकि यहाँ समष्टि का अधिकतम सुख का आदर्श ही चरम नैतिक मापदंड है इसीलिए इस मत को प्राप्तवादी सुखवाद भी कहा जाता है। बेंथम, मिल आदि इसके प्रबल समर्थक हैं।

बेन्थम

पुस्तक– Principles of Morals and Leglislation.

- निकृष्ट परार्थवादी
- निकृष्ट परार्थवादी सुखवादी
- निकृष्ट उपयोगितावादी

निकृष्ट का अर्थ– निकृष्ट क्योंकि वे सुखों में गुणात्मक भेद नहीं मानते। सभी सुख गुण की दृष्टि से समान हैं। सुख की मात्रा बराबर होने पर ताश का खेल उतना ही अच्छा है, जितना कविता पाठ।

परार्थवादी क्यों?– वे सुखवादी परिगणना में व्यापकता (Extent) को स्वीकारते हैं। उनके अनुसार वही सुख श्रेयस्कर है, जो अधिक से अधिक व्यक्तियों को मिल सके।

मापदण्ड– सुख का केवल एक मापदण्ड है, वह परिमाण (मात्रा, Quantity) है। जिस सुख का परिमाण जितना ही अधिक होगा, वह सुख उतना ही अधिक वांछनीय होगा। सुख के परिमाण मापने के सात आधार हैं, जिसे ***सुखवादी परिगणना (Hedonistic Calculus) अथवा नैतिक गणित (Moral Arithmatic) कहते हैं।***

1. तीव्रता, 2. अवधि, 3. निकटता, 4. निश्चितता, 5. शुद्धता, 6. उत्पादकता, 7. व्यापकता

1. **तीव्रता** *(Intensity)* : वह सुख अधिक अच्छा है जो दूसरे सुख से अधिक तीव्र है।
2. **अवधि** *(Duration)* : सुखों में से वह अधिक वरणीय है, जिसकी अवधि अधिक है।

3. **निकटता** *(Proximity)* : निकटस्थ सुख दूरस्थ सुख की अपेक्षा वरणीय है।

4. **निश्चितता** *(Certainty)* : निश्चित सुख अनिश्चित सुख की अपेक्षा अधिक वरणीय है।

5. **शुद्धता** *(Purity)* : शुद्ध सुख वह है जो दु:ख से व्याप्त नहीं होता है।

6. **उत्पादकता** *(Productivity or Fecundity or fruitfulness)* : वह सुख जो अन्य अनेक सुखों का जन्मदाता है।

7. **व्यापकता** *(Extent)* : अधिक व्यापक सुख कम व्यापक सुख की अपेक्षा वरणीय है।

व्यापकता (Extent) को मानने के कारण बेन्थम परार्थवादी हो जाते हैं। बेन्थम के परार्थवाद का आधार है – मनोवैज्ञानिक सुखवाद।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद– प्रकृति ने मनुष्य को सुख-दु:ख के साम्राज्य में रखा है, ये सुख-दु:ख ही मनुष्य के कर्मों के निर्धारक हैं। मनुष्य का उद्देश्य है– सुख की प्राप्ति और दु:ख की निवृत्ति। मनुष्य स्वभावत: अपने अधिकतम सुख की खोज करता है। मनुष्य के सारे कर्म स्वभावत: अपने अधिकतम सुख को चाहता है।

"मनुष्य स्वभावत: अपना अधिकतम सुख चाहता है।" मनुष्य कभी अपनी ऊँगली भी न हिलाये, यदि उसे पता हो कि इससे कोई फायदा उसे नहीं होगा। मनुष्य स्वभावत: स्वार्थी है।

मानव स्वार्थ से परार्थ की ओर कैसे ?

बेन्थम ने इसके चार कारण बताये हैं –

इन्हें नैतिक आदेश या नैतिक अनुशस्ति कहते हैं। (Moral sanctions)

1. प्राकृतिक आदेश (physical or natural sanctions)
2. सामाजिक आदेश (Social)
3. राजनीतिक आदेश (Political)
4. धार्मिक आदेश (Religious)

* बेंथम इन चारों को नैतिक अंकुश (Moral Sanctions) कहते हैं।

ये चारों बाह्य आदेश (External sanctions) हैं, जो व्यक्ति को परार्थवादी बनने को बाध्य करते हैं।

अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख – हचीसन की यह उक्ति है।

बेन्थम से सम्बन्धित से प्रमुख पद (Term) :

1. सुख–दु:ख का साम्राज्य।
2. सुख और दु:ख को तौलने की बात।
3. स्वप्न मत देखो की कोई व्यक्ति कानी ऊंगली भी हिलायेगा।
4. प्रत्येक व्यक्ति अपने ज्यादा निकट है।
5. प्रत्येक व्यक्ति की गिनती एक है, एक से अधिक नहीं।
6. ताश का खेल, कविता पाठ।

बेन्थम का सार :

जीवन का आदर्श – अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख।

निकृष्ट क्यों– सुख में केवल परिमाणात्मक भेद
सुखवादी परिगणना (Hedonistic Calculus)
सुख को मापने के सात आधार
मनोवैज्ञानिक सुखवाद
स्वभावत: अपने सुख की खोज

नैतिक आदेश या बाह्य आदेश जिसके भय से मनुष्य परार्थी बनता है।

जॉन स्टूवर्ट मिल

उपयोगितावाद वह परिणाम सापेक्ष नैतिक सिद्धांत है जिसके अनुसार 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख ही नैतिकता का मानदण्ड है' अर्थात् जो कर्म इस लक्ष्य की सिद्धि में सहायक है वह कर्म उचित है और जो इसमें बाधक है वह अनुचित है।

पुस्तक– Utilitarianism **मत या सिद्धांत–** परिष्कृत उपयोगितावाद या उत्कृष्ट परार्थवादी सुखवाद

NOTES

मिल उपयोगितावाद की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि "वह मत जो उपयोगिता या अधिकतम सुख के सिद्धांतों को नैतिकता का आधार मानता है तथा यह मानता है कि कोई कर्म उसी अनुपात में उचित है, जिस अनुपात में आनन्द की प्राप्ति होती है तथा उसी अनुपात में अनुचित जिस अनुपात में दु:ख की प्राप्ति होती है।"

मिल का कथन– किसी वस्तु की इच्छा करना और उसे सुखद समझना और किसी वस्तु से दूर भागना तथा उसे दु:खदायी समझना सर्वदा अपृथक् तत्व हैं।

नैतिक सुखवाद– चूँकि मानव स्वभाव से सुख प्राप्ति की इच्छा करता है। अत: यह उसका नैतिक कर्त्तव्य है कि वह सुख प्राप्ति की इच्छा करता रहे, उसे सुख की इच्छा करनी चाहिए।

'तर्क– कोई वस्तु दृश्य है, इसका एकमात्र प्रमाण है कि लोग उसे वास्तव में देखते हैं। कोई शब्द श्रव्य है इसका एकमात्र आधार यह है कि लोग उसे सुनते हैं। इस प्रकार वांछनीय होने का एकमात्र आधार यह है कि लोग सचमुच उसकी इच्छा करते हैं। चूँकि मानव स्वभावत: सुख की इच्छा करता है। अत: सुख की इच्छा की जानी चाहिए।'

स्वार्थ से परार्थ की ओर रूपान्तरण कैसे ?

रुचि का रूपान्तरण – परार्थ का जन्म और विकास स्वार्थ से होता है। मिल के अनुसार प्रारंभ मनुष्य दूसरों के दु:ख को दूर करने में अपना दु:ख दूर करता है, अर्थात् परोपकार का प्रयोग वह अपने सुख प्राप्ति के साधन के रूप में करता है। पर बार-बार ऐसा करने से मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त रुचि के रूपान्तरण के अनुसार हमारी अभिरुचि साध्य से हटकर साधन में चली जाती है, अर्थात् साधन ही साध्य हो जाता है। इस प्रकार हम अपना सुख भूलकर दूसरों की भलाई में ही आनंद उठाने लग जाते हैं। इस प्रकार मनुष्य में परोपकार की भावना का उदय होता है।

परोपकार करने के लिये हम बाध्य क्यों होते हैं?

मिल बेंथम की तरह चार वाह्य आदेशों को मानते हैं, जिसके कारण मनुष्य अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख का आदर्श अपनाता है। इसके साथ-साथ मिल एक आन्तरिक आदेश को भी स्वीकार करते हैं।

चार बाह्य आदेश (नैतिक अंकुश) + एक आन्तरिक आदेश या आन्तरिक अंकुश

1. प्राकृतिक आदेश + आन्तरिक आदेश (Internal Sanction of Conscience)

2. राजनीतिक आदेश 3. सामाजिक आदेश 4. धार्मिक आदेश

आन्तरिक आदेश या मनुष्य की आत्मा का अंकुश : मानव जाति के सुख की भावना, दूसरों की अनुभूतियों एवं दु:खों के प्रति सम्मान का भाव, कर्तव्य के उल्लंघन से उत्पन्न दु:ख की अनुभूति, मनुष्य की सामाजिक अनुभूतियाँ, अर्थात् अन्य मनुष्यों के साथ मिलकर रहने की इच्छा।

यह सामाजिक भावना मनुष्य में जन्मजात नहीं तो प्राकृतिक अवश्य है।

- सुखों में मात्रात्मक भेद के साथ-साथ गुणात्मक भेद। (Pleasure vary in kind as well as degree)
- सुख के दो प्रकार इन्द्रिय-सुख और बौद्धिक सुख।
- सुखों के मूल्यांकन में उनके परिमाण के साथ-साथ गुणों को भी ध्यान में रखना चाहिए।
- मिल गुणात्मक सुख को श्रेष्ठ मानते हैं।

गुणात्मक सुख को श्रेष्ठ क्यों मानते हैं ?

योग्य निर्णायक (Competent Judge)

योग्य निर्णायक कौन? जिसने दोनों प्रकार के सुखों का अनुभव किया है। यदि निर्णायकों में मतभेद हो तो बहुमत को महत्व दिया जायेगा।

इन निर्णायकों के निर्णय का आधार क्या है?

गरिमा की भावना *(Sense of Dignity) :* इसी भावना के आधार पर योग्य निर्णायक बौद्धिक सुखों को शारीरिक सुख से अधिक अच्छा मानते हैं।

कथन– *मनुष्य एक संतुष्ट सुअर होने की अपेक्षा असंतुष्ट मनुष्य होना पसन्द करता है। वह सन्तुष्ट मनुष्य की अपेक्षा असन्तुष्ट सुकरात होना पसन्द करता है।*

बेन्थम एवं मिल में समानता

1. दोनों के दर्शन का आधार मनोवैज्ञानिक
2. दोनों का दर्शन नैतिक सुखवादी है। हमारा यह कर्तव्य है कि हम सुख की खोज करें।
3. दोनों परार्थवादी हैं– अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख है।
4. दोनों उपयोगितावादी।

   जो उपयोगी है, वह उचित अर्थात् नैतिक है। चूंकि सुख उपयोगी है, अत: सुख उचित है।

   सुख ही शुभ है।

बेन्थम एवं मिल में अन्तर

1. बेन्थम सुखों में केवल मात्रात्मक भेद स्वीकार करते हैं। *मिल मात्रात्मक एवं गुणात्मक भेद दोनों* स्वीकार करते हैं।
2. *प्रवृत्तियों में भेद* : बेन्थम मानव प्रवृत्तियों में कोई भेद नहीं मानते हैं। मिल मानव प्रवृत्तियों में भेद मानते हैं। गुण भेद से तो कुछ उच्च कुछ निम्न है। बौद्धिक प्रवृत्ति शारीरिक प्रवृत्ति से अच्छी है।
3. *व्यक्ति की धारणा में अन्तर* : बेन्थम मतानुसार मानव-मानव में कोई अन्तर नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति समान है। प्रत्येक व्यक्ति की गिनती एक है। मानव पशु से अधिक नहीं है। प्राणी सदैव सुख की खोज करता है, चाहे वह पशु हो या मानव। मिल मतानुसार न केवल मानव पशु से भिन्न है बल्कि मानव-मानव में भी भिन्नता है। मूर्ख और विद्वान में अन्तर है।
4. *स्वार्थ से परार्थ मार्ग की ओर कैसे:*
   - बेन्थम – चार बाह्य कारण
   - मिल – चार बाह्य गुण + आन्तरिक कारण
5. अधिकतम सुख के मापदण्ड का आधार:
   - बेन्थम – सुखवादी गणना
   - मिल – सुख कोई भौतिक तत्व नहीं है, जिसे मापा जा सकता है। अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख का निर्धारण योग्य जज द्वारा।
6. **जीवन का साध्य :**
   - बेन्थम – किसी प्रकार का सुख।
   - मिल – मानवता के मूल्य को समझकर गुणात्मक रूप से श्रेष्ठ गुणों को ही जीवन का लक्ष्य मानते है।
   - सामान्य सुख (General Happines) — मिल

कर्म उपयोगितावाद (Act-Utilitarianism)

- समर्थक – बेन्थम, जे.सी. स्मार्ट, मूर
- वही कर्म उचित है जो अधिकतम सुख उत्पन्न करता है।
- कर्म उपयोगितावाद केवल किसी कर्म की अधिकतम उपयोगिता पर ही ध्यान केन्द्रित करता है। वह कर्म नियमानुसार है या नहीं, न्यायपूर्ण है या नहीं, इस प्रश्न का उसके लिए कोई महत्व नहीं है।

नियम उपयोगितावाद (Rule Utilitarianism)

- समर्थक - जॉन ऑस्टिन, जे.एस. मिल, ब्रान्ट, टुलमिन।
- इसके अनुसार, किसी कर्म का औचित्य उसके परिणामों से निर्धारित नहीं किया जाना चाहिए, बल्कि जिस नियम के अंतर्गत वह कर्म आता है उस नियम के अपनाने के परिणामों से निर्धारित किया जाना चाहिए।
- यह सिद्धान्त किसी विशेष कर्म की अधिकतम उपयोगिता के स्थान पर **सामान्य नियम** की अधिकतम उपयोगिता को ही महत्व देता है। इस सिद्धान्त के अनुसार, हमें केवल वही कर्म करना चाहिए जो ऐसे सामान्य नियम के अनुरूप हों जिनकी वास्तव में अधिकतम उपयोगिता हो।

NOTES

आलोचना:

1. मिल ने आनंद (Happines) एवं सुख में भेद नहीं किया है। जबकि सुख अस्थायी एवं सापेक्ष है जबकि आनंद स्थायी एवं सार्वभौम है।
2. मिल का उपयोगितावाद मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित है। परंतु मनोवैज्ञानिक सुखवाद स्वयं अमनोवैज्ञानिक है। मनुष्य वस्तु की इच्छा करता है और मनचाही वस्तु के प्राप्त होने पर उसे सुख प्राप्त होता है। यहाँ क्रम भंग दोष है। अत: सुख की इच्छा को कर्म का प्रवर्त्तक मानना भूल है।
3. मिल के उपयोगितावाद में मनोवैज्ञानिक सुखवाद के आधार पर नैतिक सुखवाद को निकाला गया है। दूसरे शब्दों में तथ्यात्मक से मूल्यात्मक निष्कर्ष को निकाला गया है। 'है' से 'चाहिए' को निकाला गया है। मूर के अनुसार यहाँ प्रकृतिवादी दोष है।

आत्मपूर्णतावाद या पूर्णतावाद (Perfectionism or Eudaemonism) यूडोमोनिजम

चरम आदर्श: मानव व्यक्तित्व का पूर्ण विकास या संपूर्ण आत्मा के कल्याण से है। मानव व्यक्तित्व के दो पक्ष हैं- 1. हीन प्रकृति 2. उच्च प्रकृति।

आत्मपूर्णतावाद यह मानता है कि भावना और इन्द्रियमय जीवन का नियंत्रण बुद्धिमय जीवन से होना चाहिए। अर्थात् मनुष्य की हीन प्रकृति पर उच्च प्रकृति का नियंत्रण आवश्यक है।

अभिव्यक्ति सुकरात, प्लेटो, अरस्तू, हीगल, ब्रेडले आदि में है।

तीन नैतिक आदर्श:

1. **आत्म-तुष्टि (*Self-gratification*):** सुखवाद में → व्यक्ति की भावना और इच्छा को प्रधानता और उसकी तृप्ति पर बल।
2. **आत्म-विजय (*Self-conquest*):** कांट में, बुद्धिवाद में → बुद्धि के आदेशों का पालन चरम आदर्श, आत्मा को विशुद्ध बुद्धिमय जीवन जीने की बात।
3. **आत्म-सिद्धि (*Self-realisation*):** आत्मपूर्णतावाद में → व्यक्तित्व को विकसित कर पूर्ण बनाना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। मानव व्यक्तित्व की पूर्णता पर बल।

मानव व्यक्तित्व के दो पक्ष	
हीन प्रकृत्ति (इन्द्रियमय, वासनामय)	**उच्च प्रवृत्ति (विवेकमय, बुद्धिमय)**
व्यक्तित्व का भावनामय पक्ष, पृथक-पृथक।	बुद्धिमय पक्ष सामान्य होता है।
व्यक्ति की अपनी अलग-अलग इच्छाएँ।	सभी में यह सामान्य रूप से पाया जाता है।
हीन आत्मा पाशविक आत्मा है।	इसके द्वारा जब वासनाओं और इच्छाओं पर नियंत्रण तब निजी और दूसरों के हित में विरोध नहीं।
जब व्यक्ति इनके अनुसार आचरण तो फिर हितों में विरोध उभरता है।	संघर्ष नहीं, सामंजस्य की स्थापना।

इसके अनुसार क्रिया का परिणाम किसी क्रिया को उचित अथवा अनुचित नहीं बनाता। क्रिया का परिणाम न तो कर्म और न संपादनकर्ता को ही नैतिक अथवा अनैतिक बनाता है। किसी कर्म का मूल्यांकन इस आधार पर होना चाहिए कि वह कर्म स्वत: उचित है या नहीं और व्यक्ति का मूल्यांकन व्यक्ति के चरित्र के आधार पर होना चाहिए कि वह अच्छा है या नहीं।

कांट का नैतिक दर्शन

जर्मन दर्शनिक, समीक्षावादी दार्शनिक, परिणाम निरपेक्ष नैतिकता का समर्थन।

नैतिकता के क्षेत्र में भावना एवं इच्छा का दमन कर (Suppression) बुद्धि पर बल।

बुद्धि ही मानव जीवन का सबसे प्रमुख तत्व है।

नैतिक नियम बौद्धिक नियम है- सब पर लागू, हमेशा लागू (सार्वभौम), कोई अपवाद नहीं।

पुस्तक ↓ नैतिकता संबंधी दो प्रमुख पुस्तकें।

1. Critique of practical reason
2. Foundation of metaphysics of morals

नैतिक दर्शन ↓ अनेक नाम

1. **बुद्धि परकतावाद:** नैतिकता के लिए बुद्धि या बौद्धिक तत्व को वरीयता देने के कारण इसका नैतिक सिद्धांत बुद्धि परकतावाद कहलाता है।
2. **कठोरतावाद *(Formalism)* :** नैतिक नियमों में कोई अपवाद नहीं मानने तथा भावनाओं एवं संवेगों की उपेक्षा कर, बुद्धि पर बल देने के कारण कांट के नैतिक दर्शन को कठोरतावादी होने का आक्षेप लगाया जाता है। प्रेम, दया या सहानुभूति वश किया गया कर्म नैतिक नहीं कहा जा सकता।
3. **फलनिरपेक्षवाद:** कांट मतानुसार कर्म के उचित या अनुचित होने का निर्धारण फल या परिणाम पर निर्भर न होकर अंतरस्थ मूल्यों से होता है। यहाँ कर्तव्य, कर्तव्य के लिए की अवधारणा है। चूंकि कांट नैतिक कर्म में परिणाम पर विचार नहीं करते इसीलिए इनका नैतिक सिद्धांत प्रयोजनवादी न होकर वैधानिक (Jural) है।

नैतिक नियम ↓

1. नैतिक नियम बौद्धिक नियम है, भावना युक्त नहीं है।
2. किसी शर्त पर आधारित नहीं है, किसी उद्देश्य पूर्ति का साधन नहीं है।
3. बौद्धिक होने के कारण अनुभव निरपेक्ष है।
4. अनिवार्य, सार्वभौम एवं अपरिवर्तनशील है।
5. ये किसी उद्देश्य प्राप्ति के साधन नहीं है।
6. नैतिक नियमों का ज्ञान व्यावहारिक बुद्धि या अंत:करण से होता है।

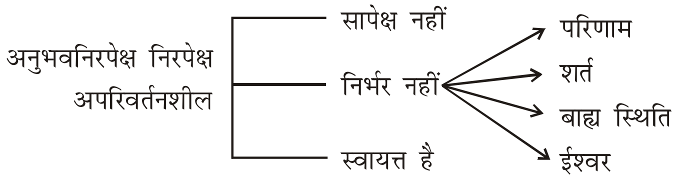

KHAN GLOBAL STUDIES Most Trusted Learning Platform KHAN SIR

NOTES

बुद्धि के दो रूप

कांट मतानुसार बुद्धि के दो रूप है-

1. ***शुद्ध बुद्धि*** जिसका संबंध सैद्धांतिक विवेचना से है।
2. ***व्यावहारिक बुद्धि*** जो नैतिक विवेचना से संबंधित है। अंत:करण व्यावहारिक बुद्धि है, जो नैतिक नियमों को अपने ही ऊपर लागू करती है। नैतिक नियमों का ज्ञान व्यक्ति को व्यावहारिक बुद्धि के द्वारा ही होता है।

आदेश

कांट समस्त आदेशों को दो भागों में वर्गीकृत करते हैं-

1. **सापेक्ष आदेश :**
   - सापेक्ष आदेश वह जो किसी मनुष्य को किसी उद्देश्य पूर्ति हेतु कुछ करने या न करने के लिए बाध्य करता है। इनसे प्रेरित कर्म स्वत: साध्य नहीं होते।
   - जो किसी लक्ष्य या उद्देश्य प्राप्ति का साधन होता है।
   - इच्छा, भावना, शर्त एवं परिणाम आदि से युक्त होता है। इच्छा या भावना से प्रेरित कर्म कर सार्वभौम नहीं बनाये जा सकते।
2. **निरपेक्ष आदेश:** क्या है? इसकी विशेषताएँ स्पष्ट करें/ नैतिक नियम निरपेक्ष आदेश क्यों है?

   निरपेक्ष आदेश वे आदेश हैं जो किसी उद्देश्य प्राप्ति के साधन न होकर अपने आप में साध्य होते हैं। कांट मतानुसार नैतिक नियम निरपेक्ष आदेश है क्योंकि इनका शुभत्व देशकाल, परिस्थिति, परिणाम, शर्त, इच्छा या भावना पर आधारित नहीं है। पुन: नैतिक नियम आदेश रूप है क्योंकि कि इनमें बाध्यता का तत्व होता है। परंतु ये वाह्य आदेश या ईश्वरीय आदेश न होकर व्यावहारिक बुद्धि के आदेश है, जो आत्मारोपित होता है। ये सार्वभौम, अपरिवर्तनशील एवं अनुभव निरपेक्ष है। इसकी निम्न विशेषताएं है-

   1. व्यावहारिक बुद्धि का आदेश है। इसमें भावना व संवेग का कोई स्थान नहीं है।
   2. यह किसी शर्त या परिणाम पर निर्भर नहीं है और न ही यह किसी प्रयोजन या उद्देश्य पूर्ति का साधन है।
   3. निरपेक्ष आदेश बाह्य आरोपित न होकर आत्मरोपित है।
   4. चूंकि व्यावहारिक बुद्धि सामान्य है, सभी मनुष्यों में पायी जाती है इसलिए ये आदेश भी सार्वभौम व अनिवार्य है।
   5. निरपेक्ष आदेश तथ्यात्मक न होकर आदर्शात्मक है। इनका संबंध 'क्या है' से न होकर 'क्या होना चाहिए' से है।
   6. निरपेक्ष आदेश एक आदेश है जिसमें बाध्यता का तत्व रहता है।
   7. निरपेक्ष आदेश बौद्धिक होने के कारण अनुभव सापेक्ष न होकर अनुभव निरपेक्ष है।

निरपेक्ष आदेश का आधार

शुद्ध संकल्प है अर्थात इन आदेशों के पीछे जो संकल्प होता है, वह शुभ होता है। शुभ संकल्प की भावना से ही निरपेक्ष आदेश उत्पन्न होते है।

शुभ संकल्प (Goodwill) : क्या है? विशेषता बताएं।

कांट के अनुसार विशुद्ध कर्तव्य की चेतना पर आधारित या उससे प्रेरित संकल्प ही शुभ संकल्प है।

इसकी निम्नलिखित विशेषताएँ है-

NOTES

1. शुभ संकल्प ही एकमात्र स्वत: साध्य शुभ अर्थात् अपने आप में शुभ या निरपेक्ष शुभ है। निरपेक्ष आदेश शुभ संकल्प पर आधारित होता है।
2. यह अप्रतिबंधित शुभ है। इसका शुभत्व देशकाल, परिस्थिति, परिणाम, शर्त, मनुष्य की इच्छा या भावनाओं पर आधारित नहीं होता बल्कि यह बौद्धिक है।
3. विश्व में शुभ संकल्प के अतिरिक्त भी कुछ अन्य वस्तुएं शुभ है परंतु वे अपने आप में या निरपेक्ष शुभ न होकर सापेक्ष शुभ हैं। इनका शुभत्व देशकाल, परिस्थिति या परिणाम आदि पर निर्भर होता है।
4. शुभ संकल्प ही एकमात्र ऐसा रत्न है जो स्वयं अपने प्रकाश से प्रकाशित होता है। शुभ संकल्प से युक्त कर्मों का ही नैतिक महत्व होता है।

मनुष्य का संकल्प शुभ संकल्प क्यों है? पवित्र संकल्प क्यों नहीं है।

कांट मतानुसार मनुष्य पूर्णत: बौद्धिक प्राणी नहीं है। वह इच्छाओं वासनाओं, संवेगों आदि से युक्त रहता है। मनुष्य के ऐसे स्वभाव के कारण ही शुभ संकल्प की स्वत: शुभ कर्मों में अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। उसे अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है, यहां कर्तव्य-अकर्तव्य का द्वंद्व उत्पन्न होता है। इस पर विजय पाने हेतु कर्तव्य की चेतना को होना आवश्यक है। इसी कर्तव्य की चेतना में बाध्यता का तत्व होता है। अंशत: बौद्धिक क्रांति होने के कारण मनुष्य कर्तव्य की चेतना में बाधित होकर शुभ संकल्प के अनुरूप कार्य करता है।

शुभ संकल्प एवं पवित्र संकल्प में अंतर

- **शुभ संकल्प:** साधारण मानव संबंधित है। हम कर्तव्यों का स्वाभाविक रूप से पालन नहीं करते कर्तव्यों को आदेश रूप में लेना पड़ता है। इसीलिए इसमें बाध्यता का तत्व होता है।
- **पवित्र संकल्प:** पूर्णतया बौद्धिक प्राणी के संकल्प को कांट पवित्र संकल्प कहते हैं। यहाँ बाध्यता नहीं होती बल्कि शुभ कर्मों की व्यवहार में स्वाभाविक रूप से अभिव्यक्ति होती है। ईश्वर या संत पुरूषों का संकल्प पवित्र संकल्प होता है।
- **उल्लेखनीय तथ्य:** शुभ संकल्प नैतिक दृष्टिकोण से उच्चतम शुभ (*Highest good*) है परंतु वह पूर्ण शुभ (Complete good) नहीं है।
- पूर्ण शुभ में सद्गुण के साथ-साथ आनंद का समावेश होता है।

सद्गुण + आनंद = पूर्ण शुभ	शुभ संकल्प = उच्चतम शुभ
पूर्ण शुभ – आनंद = उच्चतम शुभ	

पांच प्रमुख नैतिक नियम या नैतिकता के पांच सूत्र: कांट ने अपनी पुस्तक 'ग्राउंडवर्क ऑफ दी मेटाफिजिक ऑफ मारल्स' में निरपेक्ष आदेश को पांच सूत्रों या नियमों में व्यक्त किया है-

1. ***सार्वभौमिकता का सूत्र (Formula of universal law): केवल उस नैतिक नियम के अनुसार कार्य करना चाहिए जिसे आप एक सार्वभौम नियम बन जाने की इच्छा कर सकते है।*** इसके अनुसार किसी भी कार्य की नैतिकता इस बात पर निर्भर करती है कि उस कार्य का सामान्यीकरण किया जा सकता है या नहीं, अर्थात् वह सिद्धांत सामान्य रूप से सभी मनुष्यों पर लागू हो सकता है या नहीं। जो कर्म सार्वभौम नहीं बन सकता, उसे अनुचित समझकर त्याग देना चाहिए।

NOTES

कांट इस सूत्र के माध्यम से यह कहना चाहते हैं कि जिस कार्य को हम अपने प्रति उचित न समझे उसे दूसरों के प्रति भी न करें। जैसे- वचन भंग करना, आत्महत्या करना, भ्रष्टाचार (कर न देना) आदि। *आत्महत्या* करना अनुचित है क्योंकि इसे सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता। यदि सभी मनुष्य आत्महत्या करना प्रारंभ कर दें तो शीघ्र ही आत्महत्या करने के लिए कोई बचेगा ही नहीं।

अतः ***हमें उसी प्रकार कर्म करना चाहिए, जिस प्रकार हम उन्हीं परिस्थितियों में दूसरों से आशा करते हैं।***

अनैतिक कार्यों के नियमों का सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसा करने पर अनैतिक स्वतः असम्भव हो जाता है। दूसरों के घरों में चोरी करने वाला कभी यह नहीं चाहेगा कि दूसरे भी उसके घर में चोरी करें क्योंकि इससे उसके चोरी करने का प्रयोजन ही विफल हो जायेगा। इसके विपरीत, नैतिक कार्यो- परोपकार, सत्यवादिता, दान इत्यादि को सार्वभौम बनाया जा सकता है क्योंकि इससे वे और दृढ़ होते हैं। सत्य बोलने वाला व्यक्ति यह इच्छा करता है कि सभी लोग सत्य बोलें।

2. **प्राकृतिक नियम का सूत्र (Formula of the Law Nature):** ऐसा कीजिए कि मानो आपके कर्म का नियम आपकी इच्छा के माध्यम से प्रकृति का एक सार्वभौम नियम होने वाला हो।

   द्वितीय सूत्र की उपयोगिता वस्तुतः प्रथम सूत्र के संदर्भ में ही है। इसका कारण यह है कि सार्वभौम नियम तथा प्राकृतिक नियम में एक प्रकार की समानता है। प्रकृति की यह विशेषता है कि उसमें सभी घटनायें एक सामान्य नियम विशेषतः कारण-कार्य के नियम के अनुसार घटती है। हमारे नैतिक कार्यों की विशेषता यह है कि वे एक सार्वभौम नियम का अनुसरण करते हैं (प्रथम सूत्र) उसके अनुसार प्राकृतिक जगत की व्यवस्था नैतिक जगत की व्यवस्था की प्रतीक है।

   कांट के अनुसार हर प्रकार के कर्तव्य प्राकृतिक आदेश के अंतर्गत आते हैं। प्रकृति के आदेश के विपरीत कार्य आत्मविरोध की ओर ले जाते हैं। जैसे- आत्महत्या करना, झूठ बोलना, अपने स्वास्थ्य की अवहेलना करना, को प्राकृतिक आदेश नहीं माना जा सकता क्योंकि विवेकशील बुद्धि की मांग के सर्वथा विपरीत है।

3. ***मनुष्यता या मानवता को साध्य मानने का नियम (Formula of the end in itself) : "ऐसा कर्म करें कि मानवता चाहे आपके अंदर हो या दूसरों के अंदर, वह सदैव अपने आपने आप में साध्य बनी रहे, साधन मात्र नहीं बने।"***

   मनुष्य में बुद्धि या विवेक की प्रधानता है। इसी शक्ति के द्वारा नैतिक नियम प्राप्त होते हैं। यह शक्ति सभी मनुष्यों में सामान्य रूप से रहती है अतः सभी मनुष्य आदर के पात्र है। न तो हमें अपने को दूसरों को स्वार्थ सिद्धि का साधन बनाना चाहिए और न ही दूसरों को अपनी स्वार्थ सिद्धि का। अतः मनुष्य को दूसरों को साधन के रूप में व्यवहार करना अनुचित है। इसलिए कांट के अनुसार *दास प्रथा अनुचित है क्योंकि इसमें मनुष्य का प्रयोग साधन के रूप में होता है।* इस सूत्र से यह **उपसूत्र** निकलता है कि *आप सदैव अपने को पूर्ण बनाने का प्रयास करें और दूसरे के सुख और आनंद के लिए अनुकूल परिस्थितियां उत्पन्न करने की चेष्टा करें क्योंकि आप दूसरों को पूर्ण नहीं बना सकते।* क्योंकि हम दूसरों के संकल्प का निर्धारण नहीं कर सकते। अतः वह केवल अपने को पूर्ण बना सकता है दूसरों को नहीं। अतः कांट के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण बनने का प्रयास करना चाहिए तथा दूसरों के लिए अनुचित वातावरण तैयार करना चाहिए।

704, Ground Floor, Main Road, Opposite Batra Cinema, Mukherjee Nagar, Delhi-09

KGS IAS

4. **स्वाधीनता का नियम (Formula of autonomy):** इस प्रकार कार्य करें कि आप अपने आपको सार्वभौमिक नियम का विधायक समझ सके। मनुष्यों द्वारा पालन किया जाने वाला नियम किसी वाह्य सत्ता द्वारा आरोपित न होकर आत्म आरोपित होता है।
5. ***साध्यों के राज्य का नियम*** **(Formula of the kingdom of ends):** इस प्रकार कार्य करें कि आप अपने आपको साध्यों के राज्य का नियम विधायक सदस्य समझ सके।

कांट मतानुसार ***प्रत्येक व्यक्ति राजा और प्रजा दोनों है।*** वह राजा इसलिए है क्योंकि वह स्वयं नैतिक नियमों का सृष्टा है तथा अपने ऊपर उस नियम को लागू करने की प्रभुता भी है। वह प्रजा भी है क्योंकि आत्मारोपित नैतिक नियमों के पालन करने की नैतिक बाध्यता भी उसमें विद्यमान है। इस रूप में कांट अपने सिद्धांतों के द्वारा एक ***आदर्श समाज*** की कल्पना करते हैं। *उस आदर्श समाज में प्रत्येक व्यक्ति नैतिक नियमों का पालन करेगा। वह अपने और दूसरों को आदरणीय समझेगा, साधन नहीं बनायेगा। स्वयं को पूर्ण बनाते हुए अन्यों को पूर्ण बनाने का प्रयास करेगा। सभी इस तरह मिलजुलकर कर्म करेंगे कि धरती पर स्वर्ग उतर आयेगा।*

स्वतंत्रतापूर्वक आत्मानुशासन को स्वीकार करने वाले व्यक्तियों के समुदाय को कांट साध्यों का राज्य कहता है। साध्यों के राज्य के सदस्य के रूप में हम अपने मानवीय स्वरूप की उदारता तथा समस्त मनुष्यों में निहित मानवता का दर्शन करते हैं।

कर्तव्य क्या है: नैतिक नियमों के प्रति सम्मान की भावना से प्रेरित होकर, उन्हीं नियमों के अनुरूप कर्म करने की अनिवार्यता ही कर्तव्य है।

कर्तव्य-कर्तव्य के लिए (Duty for Duty Sake)

कांट मतानुसार उसी कर्म का नैतिक महत्व है जिसे मनुष्य वाह्य परिणाम, भावनाओं या इच्छाओं से प्रेरित न होकर, 'कर्तव्य-कर्तव्य के लिए' की दृष्टि से करता है। इसके माध्यम से शुभ संकल्प की अभिव्यक्ति होती है। यह व्यावहारिक बुद्धि का नियम है, जो सामान्य है। जब कर्तव्य-कर्तव्य के लिए किया जाता है तो उस नैतिक सिद्धांत को निरपेक्ष आदेश कहा जाता है। यह अपवाद रहित है, अपरिवर्तनशील है।

कर्तव्य के प्रकार: कांट मतानुसार कर्तव्य के दो प्रकार है-

1. **पूर्ण बाध्यता संबंधी कर्तव्य:** ये ऐसे निश्चित कर्तव्य है जो बाह्य शक्तियों (राजकीय कानून आदि) के भय से किये जाते हैं। जैसे- चोरी नहीं करना।
2. **अपूर्ण बाध्यता संबंधी कर्तव्य:** वे कर्तव्य जो राजकीय कानून द्वारा नियंत्रित न होकर व्यक्ति की इच्छा, देशकाल आदि पर आधारित होता है। जैसे- दान देना आदि।

नैतिकता की पूर्व मान्यताएँ

जर्मन दार्शनिक कांट मतानुसार नैतिकता की ***तीन पूर्वमान्यताएं*** है इनको माने बिना नैतिकता की सम्यक् रूपेण व्याख्या नहीं हो पायेगी। ये हैं-

1. **ईश्वर का अस्तित्व:** कांट मतानुसार नैतिकता की यह मांग है कि शुभ संकल्प से युक्त व्यक्ति को उसके शुभ आचरण के अनुपात में आनंद मिले। यह कार्य सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान ईश्वर ही कर सकता है। यहां ईश्वर विश्व के ***नैतिक न्यायाधीश*** के रूप में स्वीकृत है।

   यदि व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह मान लिया जाये कि नैतिक नियम ईश्वरीय आदेश है तो फिर नैतिक कार्यों के पालन में सरलता आ जाती है। इस रूप में यहां ईश्वर नैतिक कर्मों के ***मनोवैज्ञानिक उत्प्रेरक*** के रूप में स्वीकृत है।

NOTES

2. **आत्मा की अमरता:** कांट मतानुसार परम शुभ की प्राप्ति जीवन का नैतिक आदर्श है। परंतु किसी एक जन्म के प्रयास से इसकी प्राप्ति संभव नहीं है। इसकी संभावना की व्याख्या हेतु कांट ने आत्मा की अमरता को माना है। साथ ही कर्म नियम की समुचित व्याख्या हेतु भी आत्मा का अमरता को मानना आवश्यक है।

3. **संकल्प का स्वतंत्रता:** बिना किसी वाह्य प्रलोभन या दबाव के अपनी इच्छानुसार किसी कर्म को करने या न करने की स्वतंत्रता ही संकल्प की स्वतंत्रता है।

संकल्प स्वतंत्र या परतंत्र हो सकता है। जब किसी बाह्य लक्ष्य की प्राप्ति की भावना से कोई कर्म किया जाता है, तब यहां परतंत्र संकल्प रहता है। जब कोई कर्म केवल शुद्ध कर्तव्यभाव से किया जाता है, तब वह स्वतंत्र संकल्प रहता है। शुभ संकल्प स्वतंत्र संकल्प है। जिस प्रकार सूर्य का अपना प्रकाश रहता है और वह किसी अन्य सत्ता से प्रकाश नहीं ग्रहण करता ठीक उसी प्रकार शुभ संकल्प स्वयं प्रकाशयुक्त है और अपने ही प्रकाश में स्वयं चमकता रहता है। कांट का मत है कि व्यक्ति तभी पूर्ण स्वतंत्र कहा जा सकता है जब वह अपने कर्तव्य का दास बन जाए। कर्तव्य व्यक्ति पर बाहर से लादी हुई वस्तु नहीं है। यह तो व्यक्ति के विवेक की ही उपज है। बुद्धि अपने ही नियमों से कर्तव्य निर्धारण करती है। इसलिए कर्तव्य का दास होने का अर्थ अपना ही दास होना है। इसी में पूर्ण एवं वास्तविक स्वतंत्रता पाई जाती है।

क्या ईश्वरीय आदेश नैतिक आदेश है?

कांट मतानुसार **वास्तव में** नैतिक नियम निरपेक्ष एवं स्वायत्त हैं वे न ईश्वरीय आदेश है न किसी परिणाम पर आधारित है परंतु दैनिक जीवन में नैतिक नियमों का पालन करना कठिन कार्य हैं। यदि **व्यावहारिक दृष्टिकोण से** हम यह मान ले कि नैतिक नियम ईश्वरीय आदेश है तो नैतिकता के पालन में आसानी होती है स्पष्ट है कि यहां नैतिकता के सरलतापूर्वक पालन के दृष्टिकोण से नैतिकता को ईश्वरीय आदेश माना गया है। इस संदर्भ में ईश्वर नैतिक कर्मों के मनोवैज्ञानिक उत्प्रेरक स्वीकार्य हैं।

आलोचना

1. **कठोरतावाद:** (i) भावनाओं एवं संवेगों की उपेक्षा, (ii) नैतिक नियमों में कोई अपवाद नहीं।

   कांट मतानुसार केवल कर्तव्य की चेतना से प्रेरित कर्म ही उचित है। यहाँ प्रेम, दया, सहानुभूति, इच्छाओं एवं संवेगों से प्रेरित आचरण को कांट नैतिक दृष्टिकोण से उचित नहीं मानते। इनके अनुसार भावनाएँ हमारे ज्ञान और कार्य प्रणाली में दोष ला सकती है। इसलिए हमें सदैव इन भावनाओं पर नियंत्रण रखते हुए केवल बुद्धि के अनुसार ही कर्म करना चाहिए। इस रूप में यह इच्छा, आकांक्षा, वासना आदि का कोई महत्व नहीं है। वे ***भावनाओं के दमन की बात*** करते हैं। इसलिए उनके मत को कठोरतावाद भी कहा जाता है। कांट का यह मत सामान्य नैतिक अवधारणा के विपरीत है। वासनाओं को नियंत्रित किया जा सकता है किंतु उनका पूर्णत: दमन मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक दृष्टिकोण से उचित नहीं माना जा सकता है। दया से प्रेरित होकर किसी रोगी की सेवा करना अनुचित कर्म नहीं हो सकता।

   कांट किसी भी परिस्थिति में ***नैतिक नियमों का कोई अपवाद नहीं मानते।*** इस रूप में यहां *नैतिक नियम मनुष्य के लिए न होकर मनुष्य ही नैतिक नियमों के लिए हो गया है।* यहाँ नैतिक नियम चरम साध्य हो गया है।

2. **आकारवादी** (Formalism) **:** हार्टमन, मैकेन्जी, विलियम लिली आदि नैतिक विचारकों ने कांट के नीतिशास्त्र पर आकारिक होने का आक्षेप लगाया है। कांट अनुभव निरपेक्ष नैतिक नियमों को निरपेक्ष आदेश के रूप में स्वीकार करते हैं जहाँ भावों एवं इच्छाओं का कोई महत्व नहीं है। कांट मतानुसार किसी कर्म की नैतिकता आकारिक तत्व अर्थात् बुद्धि पर निर्भर करती है, भावना पर नहीं। इस रूप में नैतिक नियम विशुद्ध आकार बन जाते हैं।

3. देश रक्षा और जन कल्याण आदि उच्च आदर्शों के लिए किसी भी व्यक्ति को साधन के रूप में व्यवहार किया जाना चाहिए।
4. बिना इच्छा या भावना के कोई कर्म संभव नहीं है तथा बिना बुद्धि के किसी इच्छा की पूर्ति संभव नहीं है। अत: विवेक और भावना दोनों आवश्यक है।
5. कांट का शुभसंकल्प ऐसा संकल्प है जो कुछ भी संकल्प नहीं करता। 'कर्तव्य-कर्तव्य के लिए' कहने से यह पता नहीं चलता कि हमें कौन सा कर्तव्य करना चाहिए।

महत्व: कांट का कहना है कि कर्तव्य का पालन किसी भी कीमत पर होना चाहिए। उनका कथन है- *'यदि आकाश धरती पर भी आ जाये तो भी मैं कर्तव्य का पालन करता रहूँगा'* इसीलिए कांट के मत को नैतिक विशुद्धता (Moral Purism) भी कहा जाता है।

कांट के अनुसार नैतिकता के लिए वासनाओं या इच्छाओं का दमन और बुद्धि के आदेशों के अनुसार कर्तव्य करना आवश्यक है। नैतिक नियम के प्रति आदर की भावना से कर्तव्य करना ही सच्ची नैतिकता है।

जीवन में उत्पन्न नैतिक समस्याओं के समाधान के क्रम में कांट के पांच नैतिक सूत्र हमारा पथ प्रदर्शन करते हैं।

हीगल

हीगल नैतिकता के क्षेत्र में आत्मपूर्णतावाद का समर्थन करते हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक 'फिनोमिनोलॉजी आफ माइन्ड' तथा 'फिलासॉफी आफ राइट' में नैतिकता के उद्गम, विकास एवं इससे संबंधित समस्याओं का विवेचन किया है। हीगल का नैतिक दर्शन उनकी तत्वमीमांसा पर आधारित है। हीगल यह मानते हैं कि सम्पूर्ण विश्व में एक ही आध्यात्मिक सत्ता या चैतन्य तत्व (निरपेक्ष प्रत्यय) व्याप्त है। पेड़-पौधों एवं पशु-पक्षियों की तुलना में आत्म चैतन्य युक्त मनुष्य में इस चेतन तत्व का सर्वाधिक विकास हुआ है। इसलिए मनुष्य विकास क्रम में अन्य सभी प्राणियों से उच्चतर स्थिति में है। अपनी इसी विवेक शक्ति के द्वारा वह सर्वोच्च आध्यात्मिक सत्ता का ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

हीगल ने अपने नैतिक दर्शन में व्यक्ति और समाज के घनिष्ठ संबंध पर बल दिया है और इस क्रम में सामाजिक हित का वरीयता दी है। हीगल **व्यक्ति के नैतिक विकास हेतु तीन अवस्थाओं** की चर्चा करते हैं।

नैतिकता के विकास की तीन अवस्थाएँ-

1. **कानून प्रेरित नैतिकता / बाध्यता :** नैतिकता के विकास की प्रथम अवस्था में व्यक्ति राजकीय कानूनों एवं सामाजिक नियमों के कारण उचित कर्मो को करने एवं अनुचित कर्मो से पृथक रहने के लिए बाध्य होता है। यह मनुष्य पर बाह्य शक्तियों द्वारा आरोपित नैतिकता है। यह नैतिकता की विकास की निम्नतम अवस्था है जहाँ व्यक्ति दंड के भय के कारण समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है।

   द्वंद्व : व्यक्ति दंडित होना नहीं चाहता यद्यपि की वह कानून का उल्लंघन/अपराध करता है। परंतु जब उसकी अंतर्रात्मा को जागृत किया जा तो दंड को स्वीकार कर लेता है। आंतरिक नियंत्रण बाह्य नियंत्रण से अधिक सफल एवं प्रभावी है।

2. **अंत: प्रेरित नैतिकता :** बुद्धि के अधिक विकसित होने पर मनुष्य अपने नैतिक उत्तरदायित्व को समझने लगता है और वह किसी बाह्य शक्ति के दंड के भय से बाध्य होकर नहीं बल्कि अपने अंत:करण से प्रेरित होकर उचित कर्म करने लगता है। यह नैतिकता के विकास की द्वितीय अवस्था है।

   इस अवस्था में भी व्यक्ति के हित और व्यापक सामाजिक हित में संघर्ष हो सकता है, क्योंकि मनुष्य अपने व्यक्तिगत कल्याण के लिए अधिक सतर्क एवं प्रयासरत होता है और परिणामस्वरूप समाज के साथ पूरी तरह तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाता।

3. **वैयक्तिक और सामाजिक हित का एकीकरण :** यह नैतिकता के विकास की सर्वोच्च अवस्था है। इस अवस्था में मनुष्य की बुद्धि/विवेकशक्ति के पर्याप्त विकास होने पर वह व्यापक सामाजिक कल्याण में ही अपना हित

NOTES

अनुभव करता है। इस अंतिम अवस्था में व्यक्तिगत हित और सामाजिक हित का विरोध समाप्त हो जाता है। नैतिकता की विकास की यह अंतिम अवस्था ही मनुष्य के लिए उच्चतम नैतिक आदर्श प्रस्तुत करती है।

हीगल की नैतिक युक्तियाँ

1. **जीने के लिए मरो (Die to live):** मध्ययुगी ईसाई धर्म में इसका अर्थ था कि आत्मा की मुक्ति के लिए शरीर का नाश आवश्यक है क्योंकि शरीर आध्यात्मिक विकास में बाधक है। पर हीगल इस युक्ति का ऐसा अर्थ नहीं करते। उनका कहना है कि मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के लिए उसकी संकीर्ण एवं स्वार्थपूर्ण व्यक्तिगत जीवन की मृत्यु या क्षुद्र एवं वैयक्तिक आत्मा का हनन आवश्यक है। यहाँ क्षुद्र आत्मा के हनन का अर्थ है कि हमें बुद्धि द्वारा अपनी निम्न, पाशविक प्रवृत्तियों को नियंत्रित करना चाहिए। भावनाओं को बुद्धि द्वारा संचालित करके हमें उनको उच्चतर जीवन की ओर बढ़ना चाहिए। हीगल भावनाओं के दमन और विनाश की बात नहीं करते इसके विपरीत वह जीवन में भावना और बुद्धि दोनों को उचित स्थान देते हैं। उनके अनुसार बुद्धि के नियंत्रण में भावनाओं और इच्छाओं की तृप्ति की जानी चाहिए। इनका परिमार्जन संशोधन या परिष्कार आवश्यक है न कि इनका विनाश। इसलिए हीगल के अनुसार इस उक्ति का अर्थ है कि हमें व्यापक और उच्चतर जीवन के लिए अपनी स्वार्थवृत्ति और संकीर्णता का त्याग करना चाहिए एवं सुप्रवृत्तियों पर नैतिक जीवन को आधारित करना चाहिए। हीगल बुद्धि द्वारा इंद्रियों या वासनाओं के दमन या विनाश नहीं बल्कि उन पर नियंत्रण और परिष्करण पर बल देते हैं। दूसरे शब्दों में उच्चतर एवं आदर्श जीवन हेतु हीन एवं संकुचित जीवन का त्याग आवश्यक है।

2. **व्यक्ति बनो** (*Be a person*)**:** हीगल का दूसरा नैतिक सूत्र है- **व्यक्ति बनो और दूसरों का व्यक्ति के रूप में सम्मान करो।** (*Be a person and respact others as a person*) तात्पर्य यह कि हमें अपने व्यक्तित्व की सिद्धि का प्रयास करना चाहिए तथा दूसरे के व्यक्तित्व का आदर एवं सम्मान करना चाहिए, अर्थात व्यक्ति अपने सभी शक्तियों का समुचित विकास करें और साथ ही साथ दूसरों की स्वतंत्रता और सामाजिक हित में बाधा न डाले। व्यक्ति समाज का अंग है अतः सामाजिक हित ही व्यक्ति का कर्तव्य है।

   व्यक्तित्व विकास का आशय है कि हमें अपनी संकीर्ण, क्षुद्र व्यक्तिगत आत्मा को नियंत्रित करके उच्चतर आत्मा की सिद्धि करनी चाहिए। पाशविक प्रवृत्तियों को शोधन करके विवेकपूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहिए।

   मनुष्य के अंदर दो तत्व हैं- 1. कामना या इच्छा (*Sensibility*) 2. बुद्धि (*Reson or understanding*) कामनायें व्यक्तिगत हैं जबकि बुद्धि सामान्य है। कामनाओं एवं इच्छाओं के कारण हम एक-दूसरे से पृथक होते हैं, संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है, जबकि बुद्धि हमें परस्पर मिलाती है क्योंकि यह सामान्य तत्व है।

   मनुष्य में पशुता (कामना) और विवेक दोनों हैं। हमें पाशविक आत्मा को नियंत्रित एवं परिवर्तित करके बुद्धिमय आत्मा को प्राप्त करना चाहिए। अतः व्यक्ति बनो का आशय है- पाशविक वृत्तियों से ऊपर उठकर अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करना। ऐसी स्थिति में 'व्यक्ति बनने' की सार्थकता सिद्ध होती है।

टी.एच. ग्रीन

ग्रीन अपनी पुस्तक 'प्रोलेगोमेना टु एथिक्स' में नैतिक दृष्टिकोण से आध्यात्मवाद और आत्मपूर्णतावाद का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार सम्पूर्ण विश्व में एक ही चैतन्य तत्व या आध्यात्मिक सत्ता विद्यमान है। मनुष्यों में यह चैतन्य तत्व बुद्धि या विवेक के रूप में अभिव्यक्त होता है। अन्य प्राणियों की अपेक्षा चैतन्य तत्व का मनुष्य में अधिक विकास हुआ है। इसी विवेकशीलता के कारण मनुष्यों में कर्त्तव्य की भावना जागृत होती है। इस प्रकार ग्रीन नैतिकता के उदगम और विकास की व्याख्या जैविकीय नियमों के आधार पर न करके आत्म चेतना और बुद्धि के आधार पर करते हैं।

ग्रीन मतानुसार नैतिक सुख की प्राप्ति केवल विवेकपूर्ण जीवन से ही संभव है। मनुष्य मूलतः विवेकशील प्राण ी है। अतः उसे अपनी बौद्धिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों के विकास के लिए प्रयास करना चाहिए। इनके अनुसार क्षणिक इच्छाओं की तृप्ति वास्तविक शुभ नहीं है बल्कि जिससे मनुष्य को आध्यात्मिक संतोष प्राप्त होता है वही वास्तविक एवं स्थायी नैतिक शुभ है।

ग्रीन मतानुसार मनुष्य में संकल्प की स्वतंत्रता है जो उसकी विवेकशीलता का परिणाम है। इसी कारण मनुष्य अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ है। अन्य प्राणियों का जीवन कुछ मूल प्रवृतियों जैसे- भय, भूख आदि से संचालित होता है। किंतु मनुष्य अपनी विवेकशीलता द्वारा इन मूल प्रवृत्तियों को नियंत्रित कर अपनी स्वतंत्र इच्छानुसार बुद्धि संगत आचरण करता है।

हीगल की भांति ग्रीन भी यह मानते हैं कि वैयक्तिक एवं सामाजिक हित में कोई मौलिक भेद नहीं है क्योंकि अंततः सामाजिक हित में ही व्यक्ति का भी हित है। समाज में रहकर ही व्यक्ति अपने कर्तव्यों का पालन कर सकता है और अपनी शक्तियों को पूर्ण विकसित कर सकता है। अतः समाज के अभाव में नैतिक जीवन की कल्पना संभव नहीं है। सामाजिक जीवन व्यतीत करने कारण ही मनुष्य में बुद्धि के विकास के साथ-साथ नैतिक चेतना का भी उत्तरोत्तर विकास हुआ है।

<u>मनुष्य के नैतिक विकास के विभिन्न चरण :</u>

1. विकास के प्रारंभिक काल में सीमित विवेक शक्ति के कारण मनुष्य अपने परिवार और संबंधित समुदाय के हित को ही वरीयता देता था। यह सामुदायिक नैतिकता का युग था।
2. बुद्धि के विकास के साथ-साथ मनुष्य का दृष्टिकोण अधिक व्यापक हुआ और अपने समुदाय के हित के स्थान पर 'नगर-राज्य' के हित को महत्व दिया जाने लगा जिसमें अनेक समुदाय सम्मिलित थे।
3. विवेक शक्ति के विकास के साथ-साथ मनुष्य का दृष्टिकोण और व्यापक हुआ और अपने छोटे नगर राज्य के स्थान पर पूरे राष्ट्र के हित को महत्व देने लगा।
4. वर्तमान में मनुष्य की नैतिक चेतना इतनी अधिक विकसित हो चुकी है कि अब वह सम्पूर्ण मानवजाति के हित पर विचार करने लगा। इस प्रकार ग्रीन मतानुसार मनुष्य की बुद्धि अथवा विवेकशीलता के विकास के साथ-साथ ही उसका नैतिक विकास भी हुआ है।

विवेकशीलता के विकास के साथ-साथ नैतिक चेतना का विकास

आरंभ में परिवार हित → नगर राज्य हित → राष्ट्रहित → वर्तमान में सम्पूर्ण मानवजाति का हित

ग्रीन मतानुसार मनुष्य की बुद्धि अथवा विवेकशीलता के विकास के साथ-साथ उसकी नैतिक चेतना का भी विकास हुआ है।

ग्रीन मतानुसार व्यक्ति के नैतिक जीवन की सार्थकता अंततः उसके सामाजिक जीवन में ही निहित है। सामाजिक हित में ही व्यक्ति का भी हित निहित है। वैयक्तिक एवं सामाजिक हित के पूर्ण एकीकरण द्वारा ही मनुष्य के लिए आत्मसिद्धि संभव है अर्थात् मनुष्य सम्पूर्ण मानव-समाज का अभिन्न अंग बनकर और उसके हित में कार्य कर ही अपनी समस्त बौद्धिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों को विकसित कर सकता है। स्पष्ट है कि ग्रीन भी मूलतः सामाजिक जीवन को ही मनुष्य के नैतिक आचरण तथा उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास का अनिवार्य आधार मानते हैं।

ब्रैडले

ब्रैडले की उक्ति- मेरा स्थान और उससे संबंधित कर्तव्य (My station and its duties) : अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'एथिकल स्ट्डीज' में ब्रैडले कहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य का समाज में एक विशेष स्थान है और तद्नरूप कर्तव्य भी है। प्रत्येक मनुष्य विशिष्ट योग्यता के साथ जन्म लेता है। हर व्यक्ति की शक्ति समान नहीं होती। अतः हर व्यक्ति हर काम को नहीं कर सकता। उसे अपनी योग्यता के अनुकूल ही कर्म करना चाहिए। उससे ही उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास संभव है। प्रत्येक व्यक्ति का समाज में अपना विशेष स्थान है जैसे शिक्षक, शासक आदि के रूप में। उस स्थान के कुछ निश्चित कर्तव्य भी है। व्यक्ति को चाहिए कि अपने स्थान या पद से संबंधित कर्तव्यों का पालन अपनी

सारी शक्ति और योग्यता के साथ करे। इसी में उसका भी कल्याण है और समाज का भी। यदि समाज का प्रत्येक सदस्य अपने स्थान से संबंधित कर्तव्यों का पालन करता है तो संपूर्ण समाज का अभ्युदय होता है और प्रत्येक व्यक्ति का भी। इसी से प्रत्येक व्यक्ति आत्मसिद्धि पा सकता है। ऐसा करने से ही उसके संपूर्ण व्यक्तित्व का पूर्ण विकास संभव है। तभी उसे आनंद की प्राप्ति हो सकती है। अत: प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्थान तथा योग्यता के अनुसार अपना कर्तव्य करना चाहिए। इस प्रकार ब्रैडले ने अपना स्थान और कर्तव्य के सिद्धांत के आधार पर **व्यक्ति और समाज के बीच समन्वय स्थापित किया है।** गीता में भी प्रत्येक व्यक्ति को स्वधर्म पालन का उपदेश दिया गया है।

जॉन राल्स का न्याय संबंधी विचार

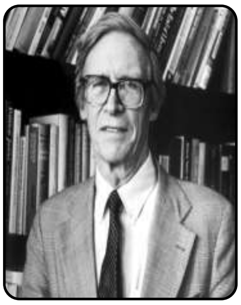

जॉन राल्स मूलत: एक उदारवादी विचारक हैं। उन्होंने अपनी कृति 'A Theory of Justice' में यह माना कि समाज के लिये अपेक्षित सद्गुणों में न्याय का स्थान प्रथम एवं प्रधान है। प्लेटो की भांति राल्स भी यह मानते हैं कि न्याय सामाजिक संस्थाओं का प्रथम एवं प्रधान सद्गुण है अर्थात् सभी सामाजिक संस्थाएँ न्याय के आधार पर ही अपनी औचित्यपूर्णता को सिद्ध कर सकती हैं।

राल्स के अनुसार न्याय सिद्धान्त का उद्देश्य प्रक्रिया या नियमों की खोज होनी चाहिए। यदि प्रक्रिया या नियम निष्पक्ष एवं न्यायपूर्ण हैं तो परिणाम भी न्यायपूर्ण होगा। अत: राल्स ने निष्पक्षता पर आधारित प्रक्रिया या नियमों की खोज को अपने न्याय सिद्धान्त का केन्द्रबिंदु माना है।

राल्स अपने न्याय विचार को शुद्ध प्रक्रियात्मक न्याय (Pure Procedural Justice) की संज्ञा देते हैं जिसका आशय है कि न्याय का जो भी सिद्धान्त सर्वसम्मत ढंग से स्वीकार कर लिया जायेगा, उसके प्रयोग के उपरान्त जो भी वितरण व्यवस्था अस्तित्व में आयेगी, वह अनिवार्यत: न्यायपूर्ण होगी। राल्स के अनुसार न्याय की मुख्य समस्या प्राथमिक वस्तुओं (Primary Goods) के न्यायपूर्ण वितरण की समस्या है। प्राथमिक वस्तुओं से इनका आशय स्वतंत्रता, अधिकार, शक्ति, अवसर, आय, सम्पत्ति तथा आत्म-सम्मान के साधनों से है। इस वितरण को राल्स प्रक्रियात्मक न्याय सिद्धान्त द्वारा सम्भव मानते हैं।

न्याय के निष्पक्ष नियमों की खोज के संदर्भ में राल्स ने सर्वप्रथम एक मूल स्थिति का वर्णन किया है।

राल्स कहते हैं कि यदि सभी व्यक्तियों को उनकी सामाजिक एवं आर्थिक हैसियत से पृथक करके एक काल्पनिक स्थिति में रख दिया जाए तो ऐसी स्थिति में सभी व्यक्ति हीनतम स्थिति में होने की आशंका से ग्रस्त हो जाएंगे। राल्स इस काल्पनिक स्थिति को **मूल स्थिति** का नाम देते हैं जिसमें सभी व्यक्ति अज्ञान के पर्दे के पीछे होते हैं। इस अवस्था में राल्स का कहना है कि सभी लोगों की एक मांग होगी -''हीनतम स्थिति वालों के लिए अधिकतम लाभ की व्यवस्था होनी चाहिए।'' इस समय सभी लोग न्याय के निम्नवत् सिद्धान्त को स्वीकार कर लेंगे-

1. सभी व्यक्तियों को बुनियादी स्वतंत्रता का समान अधिकार मिलना चाहिए और यही अधिकार अन्य व्यक्तियों को भी प्राप्त होना चाहिए। राल्स इसे समान स्वतंत्रता का सिद्धान्त कहते हैं।
2. सामाजिक एवं आर्थिक विषमताएँ इस ढंग से व्यवस्थित की जाए कि-
   (i) सबसे कमजोर स्थिति वाले लोगों को अधिकतम लाभ प्राप्त हो। राल्स इसे भेदमूलक सिद्धान्त कहते हैं।
   (ii) ये विषमताएँ उन पदों या स्थितियों से जुड़ी हों जो अवसर की उचित समानता की शर्तों पर सबके लिए सुलभ हो। इसे अवसर की उचित समानता का सिद्धान्त कहते हैं।

राल्स के न्याय सिद्धान्त की मुख्य विशेषता यह है कि उसने सीधे बाजार व्यवस्था को प्रक्रियात्मक न्याय व्यवस्था का प्रारूप नहीं स्वीकारा। जैसा कि हेयक, फ्रीडमैन एवं नाजिक जैसे उदारवादियों ने किया अपितु राल्स प्रक्रियात्मक न्याय को सामाजिक न्याय का उपकरण बनाने का प्रयत्न करते हैं। भेदमूलक सिद्धान्त के अनुसार कोई भी व्यक्ति तभी

विशेष पुरस्कार पाने का अधिकारी होगा जब वह अपनी प्रतिभा का प्रयोग हीनतम लोगों के कल्याण के लिए करने को तैयार हो।

प्रश्न यह उठता है कि ऐसा वे करेंगे क्यों?

इस पर राल्स का कहना है कि हमारा सामाजिक जीवन सहयोग पर आधारित है। राल्स के अनुसार- व्यक्ति ने जो कुछ उपार्जित किया है (शिक्षा, हुनर, कौशल और कारीगरी) उसके पीछे न केवल उसके परिवार, बल्कि पूरे समाज का हाथ है। इसलिए समाज की व्यापक भलाई की दृष्टि से यह जरूरी है कि आय और संसाधन इस प्रकार बँटे हों जिससे सामूहिक हितों की सिद्धि हो सके। राल्स कहते हैं कि समाज रूपी शृंखला को मजबूत करने के लिए इसकी सबसे कमजोर कड़ी को मजबूत करना होगा, क्योंकि -''कोई भी जंजीर अपनी सबसे कमजोर कड़ी से अधिक मजबूत नहीं होती है।'' यह प्रक्रिया दोहराते रहने पर ही पूरा समाज सुदृढ़ हो सकेगा एवं यही न्याय की उचित एवं आदर्श व्यवस्था होगी।

राल्स के अनुसार - सरकार द्वारा आय का हस्तांतरण इस प्रकार किया जाए जिससे कि दीन-हीन वर्ग सबसे ज्यादा लाभान्वित हों। समाज में अमीर और गरीब के बीच विषमताएँ हैं ही, स्वयं गरीबों के बीच भी काफी असमानताएँ हैं। इसलिए गरीबों में जो ज्यादा गरीब हैं, उन्हें आय का अधिक हस्तांतरण किया जाए। उदाहरणस्वरूप, नौकरी से अवकाश प्राप्त गरीब लोगों, विधवाओं, अनाथ बच्चों, अपंग व्यक्तियों के कल्याण एवं विकास के बारे में पहले विचार किया जाए। भारतीय उच्चतम न्यायालय ने पिछड़ों में जो तबके अगड़े हैं, उनको पिछड़ों की सूची से निकालकर एक प्रकार से राल्स के न्याय सिद्धान्त की ही पुष्टि की है।

राल्स का यह कहना है कि जो लोग ऊँची प्रतिभा रखते हैं, उन्हें योग्यतानुसार अधिक पुरस्कार मिले, यह संगत है। परन्तु, इससे भी ज्यादा जरूरी यह है कि कम योग्यता और कम क्षमता रखने वाले लोगों की क्षतिपूर्ति की जाए। इसी संदर्भ में **जॉन राल्स** कहते हैं कि ***''न्याय वास्तव में पुरस्कार का सिद्धान्त न होकर, क्षतिपूर्ति का सिद्धान्त है''*** (Justice is not an 'ethic of rewards' but an 'ethic of redress')A

समालोचना:

1. राल्स पर पूँजीवादी व्यवस्था के औचित्य को सिद्ध करने का आरोप लगता है। धनवानों के विशेषाधिकार को यह सुरक्षित रखता हुआ दिखाई देता है। उनके लाभ से निर्धन का भी कल्याण होगा, किन्तु राल्स यह स्पष्ट नहीं करते कि उनके लाभ का बहुतायत भाग निम्न वर्ग के कल्याण हेतु कैसे खर्च हो?
2. इस सिद्धान्त में विरोधाभास दिखता है। पहला सिद्धान्त सभी के लिए समान स्वतंत्रता की माँग करता है, वहीं दूसरा सिद्धान्त असमानता को न्यायोचित ठहराता है।
3. स्वतंत्रता के विचार के समर्थकों का आरोप है कि राल्स समानता को महत्ता देकर स्वतंत्रता का बलिदान कर देते हैं। इन विचारकों का मानना है कि योग्य लोगों को हीन लोगों के सहयोग हेतु विवश क्यों किया जाए?
4. असमान या विषमतापूर्ण समाज में स्वतंत्रता की भी कल्पना सम्भव नहीं है, क्योंकि शक्तिशाली वर्ग कमजोर पर नियंत्रण कर लेगा।

महत्व:

- हीनतम स्थिति में पड़े व्यक्ति के पक्ष में भेदभाव किया जाना चाहिए।
- नैतिकता को समाज से जोड़ना चाहिए।

(i) राल्स का न्याय सिद्धान्त समकालीन युग में न्याय का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त माना गया है। राल्स ने उदारवादी न्याय सिद्धांत को नैतिक आधार प्रदान किया है। राल्स के पूर्व उदारवादी न्याय में उपयोगितावादी न्याय का सिद्धांत प्रचलित था जिसके अनुसार न्याय का अर्थ है- ''अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख।'' नैतिक दृष्टि से यह गलत सिद्धान्त है क्योंकि यह समाज के अल्पसंख्यक वर्ग के लिए न्याय की

NOTES

व्यवस्था नहीं है। लेकिन राल्स के न्याय सिद्धान्त में समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए न्याय प्राप्ति की बात की गई है।

(ii) राल्स का न्याय सिद्धान्त बाजार, समाज और कल्याणकारी राज्य का समन्वय करता है जो कि समकालीन राजनीतिक दर्शन की एक प्रमुख समस्या थी।

(iii) राल्स ने अपने न्याय सिद्धान्त के द्वारा समानता, स्वतंत्रता, न्याय के मध्य संबंधों की विवेचना की और यह दिखाया कि तीनों का सह-अस्तित्व संभव है।

(iv) कुछ विचारक यह मानते हैं कि राल्स के न्याय सिद्धान्त को अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में लागू किया जाना चाहिए। यहाँ विकासशील राष्ट्रों को निम्न सुविधा प्राप्त वर्ग की श्रेणी में रखा जा सकता है। अत: अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इनके लिए विशेष सुविधा की व्यवस्था की जानी चाहिए।

फिर भी राल्स का न्याय सिद्धान्त महत्ता रखता है, क्योंकि राल्स स्पष्ट करते हैं कि न्याय की प्रक्रिया निर्धारित करते समय सामाजिक न्याय के लक्ष्य को ध्यान में रखना जरूरी है।

अमर्त्य सेन

- अमर्त्य सेन का जन्म 3 नवम्बर 1933 को हुआ था।
- 1998 में कल्याणकारी अर्थशास्त्र (Welfare Economics) और सामाजिक चयन सिद्धांत (Social Choice Theory) के क्षेत्र में उनके योगदान के लिए नोबेल पुरस्कार दिया गया। 1999 में उन्हें 'भारत रत्न' सम्मान भी दिया गया। कुछ प्रसिद्ध रचनायें हैं-
    - कलेक्टिव चॉयस एंड सोशल वेलफेयर (1970)
    - डेवलपमेंट एज फ्रीडम (1999)
    - द आर्ग्यूमेंटेटिव इंडियन (2005)

अकाल के कारणों (The causes of famine) पर उनके द्वारा किये गये शोध कार्य के आधार पर खाद्यान्न की वास्तविकता या दिखाई पड़ने वाली कमी के प्रभावों को रोकने या कम करने के व्यावहारिक उपाय विकसित करने में मदद मिली।

KHAN GLOBAL STUDIES Most Trusted Learning Platform KHAN SIR

अमर्त्य सेन का विचार

प्रख्यात अर्थशास्त्री अमर्त्य सेन के अनुसार विकास जीवन की गुणवता में सुधार तथा मनुष्य की स्वतंत्रता में वृद्धि है। यहाँ स्वतंत्रता को विकास की कसौटी माना गया है और इस क्रम में स्वतंत्रता के संरक्षण एवं प्रोत्साहन पर विशेष बल दिया गया है।

अमर्त्य सेन के अनुसार स्वतंत्रता न केवल विकास का अन्तिम लक्ष्य है, बल्कि वही विकास का प्रमुख साधन या माध्यम भी है। इस प्रकार यहाँ विकास के साधन एवं साध्य दोनों रूपों में स्वतंत्रता को स्वीकार किया गया है।

इस प्रकार यहाँ स्वतंत्रता के दो रूप दिखायी देते हैं- ***(i) साधनकारी स्वतंत्रता (ii) सारभूत स्वतंत्रता***

साधनकारी स्वतंत्रता लोगों को मनोवांछित जीवनयापन में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मदद करता है। यहाँ इस साधन रूपी स्वतंत्रता को हम दो रूपों में देख सकते हैं- ***(i)*** नकारात्मक रूप ***(ii)*** सकारात्मक रूप

नकारात्मक रूप में इसका आशय स्वातंत्र्य विहीनता (Unfreedom) के मूल कारणों का निराकरण करना है। इसके अंतर्गत गरीबी एवं दमन, आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था का अभाव, सार्वजनिक सुविधाओं की अनदेखी इत्यादि का निराकरण किया जाता है।

भावात्मक रूप में इसका आशय कुछ विशेष प्रकार की स्वतंत्रताओं एवं अवसरों की उपलब्धि से है। इस संदर्भ में पाँच स्वतंत्रताएँ महत्वपूर्ण हैं-

(i) **राजनीतिक स्वतंत्रता:** लोगों को यह तय करने का अधिकार होना चाहिए कि उनके ऊपर कौन और किस प्रकार से शासन करेगा। इसके अंतर्गत मतदान, निर्वाचित होने, आलोचना एवं समीक्षा करने का अधिकार सम्मिलित है।

(ii) **आर्थिक सुविधाएँ:** यहाँ इसका आशय उपभोग, उत्पादन एवं विनिमय के आर्थिक संसाधनों के प्रयोग के अवसर एवं अधिकारों से है।

(iii) **सामाजिक सुअवसर:** समाज में शिक्षा, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा आदि की मूलभूत सुविधाओं का होना आवश्यक है।

(iv) **पारदर्शिता की उपस्थिति:** यह भ्रष्टाचार निरोध, गैर जिम्मेदाराना व्यवहार, हेरा-फेरी आदि को रोकने में सहायक है।

(v) **सामाजिक-सुरक्षा व्यवस्था:** गरीबी, अकाल, बेरोजगारी इत्यादि की स्थिति में संरक्षणात्मक व्यवस्था का होना आवश्यक है ताकि लोगों को भूख, अकाल, मृत्यु इत्यादि से बचाया जा सके।

ये साधन रूपी स्वतंत्रताएँ व्यक्तियों की क्षमताओं को बढ़ाते हैं और परस्पर एक-दूसरे को भी मजबूती प्रदान करते हैं। इस प्रकार यहाँ अधिकारों एवं अवसरों के माध्यम से मानवीय जीवन की गुणवत्ता में सुधार की बात की गयी है। ऐसा होने पर सारभूत स्वतंत्रता साकारित होने लगती है। सारभूत स्वतंत्रता उस जीवन पद्धति का चयन कर पाने की क्षमता का होना है जिसे व्यक्ति मूल्यवान मानता है।

टॉपिक 1 : समानता, स्वतंत्रता और न्याय

टॉपिक 2 : विकास और सामाजिक उन्नति

प्रश्न : ''अमर्त्य सेन व रॉल्स के बीच समानता एवं विषमता'' को स्पष्ट करें।

अमर्त्य सेन किस प्रकार रॉल्स के न्याय सिद्धान्त की आलोचना करते हैं?

रॉल्स व अमर्त्य सेन में समानता :

दोनों उदारवादी हैं।

दोनों लोकतांत्रिक शासन प्रणाली का समर्थन करते हैं।

दोनों बाजारवादी आर्थिक व्यवस्था का समर्थन करते हैं।

दोनों यह मानते हैं कि न्याय प्रणाली को मानवीय एवं समावेशी होना चाहिए।

जॉन रॉल्स की आलोचना अमर्त्य सेन द्वारा : अमर्त्य से अपनी पुस्तक 'Inequality Re-examine' तथा Development as Freedom में अमर्त्य सेन का न्याय सिद्धान्त 'सामर्थ्य की समानता' है।

सामर्थ्य की समानता

सकारात्मक विभेद के कारण मिले अवसर का सामर्थ्य के अभाव में वंचित लोग उसका लाभ नहीं ले पाएंगे या उपयोग नहीं कर पाएंगे।

आलोचना के बिन्दु :

1. अमर्त्य सेन के अनुसार व्यक्तिगत स्वतंत्रता रॉल्स द्वारा अधिक बल की तुलना में भूख, कुपोषण, स्वास्थ्य विहीनता आदि मुद्दों को अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए।
2. रॉल्स मतानुसार न्याय का अर्थ है प्राथमिक सामाजिक वस्तुओं का असमान वितरण। यह वितरण तभी असमान हो सकता है, जब इसका उद्देश्य समाज के वंचित वर्ग को अधिकतम लाभ पहुंचाना हो।

अमर्त्य सेन के अनुसार प्राथमिक वस्तुओं के वितरण की बजाय सामर्थ्य या क्षमता के विकास पर बल देना चाहिए। इसी आधार पर वे 'सामर्थ्य के समतावादी' सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं।

सामर्थ्यवान बनाने से ही व्यक्ति जो अधिक स्वतंत्रता मिलेगी और तब वह उपलब्ध संसाधनों का भी अच्छे

NOTES

तरीके से उपयोग कर सकेगा। अत: सामाजिक नीति बनाने वालों को लोगों के साथ सम्बन्ध अधिाक से अधिक जानकारी होनी चाहिए ताकि वंचित वर्गों के सामर्थ्य को बढ़ाने हेतु बेहतर नीतियां बनाई जा सके।

सामाजिक नीति बनाते समय मानवीय विविधता के तत्व को ध्यान में रखा जाना चाहिए–

– रॉल्स के न्याय की अवधारणा में संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं पर बल दिया गया है जबकि अमर्त्य सेन इसके महत्त्व को स्वीकार करते हुए न्याय के परिणाम पर अधिक बल देते हैं।

– अमर्त्य सेन के अनुसार न्याय कोई अमूर्त या आदर्शवादी विचार नहीं है बल्कि एक व्यावहारिक प्रक्रिया है, सतत् प्रक्रिया है।

– अमर्त्य सेन ने नीति केन्द्रित और न्याय केन्द्रित उपागम में भेद किया है। नीति संस्थागत गुणों एवं औचित्यपूर्ण व्यवहारों से संबंधित है, जबकि न्याय लोगों के वास्तविक सामाजिक जीवन से संबंधित है।

अमर्त्य सेन के अनुसार रॉल्स का न्याय नीति केन्द्रित उपागम के नजदीक है। रॉल्स के 'न्याय निष्पक्षता के रूप में' अवधारणा में न्यायपूर्ण समाज (Just Society) की बजाय न्यायपूर्ण संस्था (Just Institutions) पर बल दिया गया है। इसीलिए रॉल्स का न्याय समाज में कोई मूलभूत तात्विक परिवर्तन (Substantive Change) नहीं ला सकता है। रॉल्स का न्याय केवल ''न्याय का एक राजनैतिकत सम्प्रत्यय'' प्रस्तुत करता है, जो केवल न्यायपूर्ण संस्था पर लागू होता है। इसमें व्यक्ति के वास्तविक कार्य व्यवहार एवं सामाजिकता को उपेक्षित किया गया है।

– रॉल्स का न्याय समस्याओं का अलौकिक आदर्शवादी समाधान करता है। यह संस्थाओं, नियमों एवं प्रक्रिया पर बल देता है। यह उन लोगों की आवाज पर ध्यान नहीं देता जो इस समझौते के भाग नहीं थे।

रॉल्स का न्याय भूमंडलीकरण के दौर में संगत नहीं है। आज वस्तुएं एवं घटनाक्रम अंतर संबंधित माने जाते हैं।

Substances Justice मनुष्य की स्वतंत्रता एवं सामर्थ्य से संबंधित हैं।

अमर्त्य सेन का विकास सम्बन्धी विचार

प्रख्यात अर्थशास्त्री अमर्त्य सेन के अनुसार विकास जीवन की गुणवत्ता में सुधार तथा मनुष्य की स्वतंत्रता में वृद्धि है। यहां स्वतंत्रता को विकास की कसौटी माना गया है तथा इस क्रम में स्वतंत्रता के संरक्षण एवं प्रोत्साहन पर बल दिया गया है।

अमर्त्य सेन के अनुसार स्वतंत्रता न केवल विकास का अंतिम लक्ष्य है, बल्कि यही विकास का प्रमुख साधन एवं माध्यम भी है। इस प्रकार यहां विकास के साधन और साक्ष्य दोनों रूपों में स्वतंत्रता को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार यहां स्वतंत्रता के दो पक्ष हैं– पहला: साधनकारी स्वतंत्रता, दूसरा: सर्वभूत स्वतंत्रता/ साध्यकारी स्वतंत्रता।

साधनकारी स्वतंत्रता लोगों को अपने मनोवांछित जीवनयापन में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से समर्थन करते हैं। यहां इस साधन रूपी स्वतंत्रता को हम दो भागों में बांट सकते हैं– 1. नकारात्मक, 2. सकारात्मक

नकारात्मक रूप में इसका आशय स्वतंत्रविहीनता के मूल कारकों का निराकरण करना है। इसके अंतर्गत गरीबी एवं दमन, स्वास्थ्य विहीनता, भूख एवं कुपोषण, आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था का अभाव, सार्वजनिक सुविधाओं की अनदेखी आदि का निराकरण किया जाता है।

भावात्मक रूप से इसका आशय स्वतंत्रता एवं अवसरों की उपस्थिति से है। इस संदर्भ में पांच स्वतंत्रताएं महत्त्वपूर्ण है :

1. राजनैतिक स्वतंत्रता : लोगों को यह निश्चित करने का अधिकार होना चाहिए कि उनके ऊपर कौन और किस प्रकार से शासन करेगा। इसके अंतर्गत मतदान करने, निर्वाचित होने, सभा करने, आलोचना एवं समीक्षा करने आदि का अधिकार सम्मिलित है।

2. आर्थिक सुविधाएं : यहां इसका आशय उपभोग, उत्पादन एवं विनिमय के आर्थिक संसाधनों के प्रयोग के अवसर एवं अधिकारों से है।

3. सामाजिक सुअवसर : समाज में शिक्षा, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा आदि की मूलभूत सुविधाओं का होना आवश्यक

है। इसके अभाव में सामर्थ्य की समानता नहीं हो सकती। बिना सामर्थ्य की समानता के न्याय की अवधारणा साकारित नहीं हो सकती।

4. पारदर्शिता की उपस्थिति : यह भ्रष्टाचार, लोकनिधि के दुरूपयोग, हेरा-फेरी आदि की रोकने में सहायक है।

5. संरक्षणात्मक सुरक्षा: गरीबी, अकाल, बेरोजगारी आदि की स्थिति में संरक्षणात्मक व्यवस्था का होना आवश्यक है ताकि लोगों को भूख, कुपोषण, अकाल, मृत्यु आदि से बचाया जा सके।

ये साधन रूपी स्वतंत्रताएं व्यक्तियों की शक्तियां एवं सामर्थ्य को बढ़ाते हैं और परस्पर एक-दूसरे को मजबूती प्रदान करते हैं। इस प्रकार यहां अधिकारों एवं अवसरों के माध्यम से मानवीय जीवन की गुणवत्ता में सुधार की बात की गई है। ऐसा होने पर ही सर्वभूत स्वतंत्रता साकारित होगी।

सर्वभूत स्वतंत्रता उस जीवन पद्धति का चयन कर पाने की क्षमता या सामर्थ्य का होना है, जिसे व्यक्ति मूल्यवान मानता है।

सेन ने नीति केन्द्रित और न्याय केन्द्रित उपागम (।चचतवंबी) में अंतर किया है-

नीति संस्थागत गुणों एवं व्यवहारों से सम्बन्धित औचित्यपूर्ण है जबकि न्याय लोगों के वास्तविक जीवन।

दलाईलामा

- तिब्बत के सर्वोच्च धार्मिक गुरू एवं राजनैतिक प्रमुख हैं।
- 'दलाईलामा' कोई नाम नहीं है, बल्कि उपाधि है।
- 'दलाईलामा' का अर्थ है - ज्ञान का महासागर।
- वर्तमान में 14वें दलाईलामा हैं।
- इनका वास्तविक नाम तेनजिंग ग्यात्सो है।
- पुस्तक - 'My Land and My People' (आत्मकथा)।
- निर्वासित सरकार - हिमाचल की धर्मशाला में है।
- बौद्ध धर्म राष्ट्र धर्म के रूप में - भूटान और लाओस।

अब्राहम लिंकन (Abraham Lincoln)

- अमेरिका के महानतम् राष्ट्रपति
- हार जाना, फिर कोशिश करना, अंततः जीतना
- प्रयास करने वालों की हार नहीं होती

प्रमुख कथन:

1. "लगभग सभी लोग विपत्ति का सामना कर सकते हैं पर यदि किसी के चरित्र का परीक्षण करना है, तो उसे शक्ति/अधिकार दे दो" "Nearly all men can withstand adversity, but if you want to test a man's character, give him power."- Abraham Lincoln
2. "When I do good, I feel good. When I do bad, I feel bad. That's my religion."?

अब्राहम लिंकन का जन्म 1809 में संयुक्त राज्य अमेरिका के 'केंटुकी' नामक स्थान पर एक निर्धन किसान परिवार में हुआ था। आरंभ में उन्होंने आजीविका निर्वहन हेतु लकड़ी काटने, खेती करने, दुकान में सहायक की नौकरी करने एवं नाव चलाने का काम किया। बाद में वे वकील बने। गुलामों की मुक्ति एवं गरीबों के कल्याण हेतु उन्होंने राजनीति में प्रवेश किया। उनके प्रयासों से अमेरिका में गोरे के समान ही कालों को भी समान सामाजिक एवं राष्ट्रीय अधिकार प्राप्त हुए।

NOTES

गुलामी प्रथा का विरोध

लिंकन के समय अमेरिका में गुलाम प्रथा थी तथा अधिकांश लोग गुलाम प्रथा को बनाये रखना चाहते थे। ब्रिटेन के अंग्रेजों द्वारा नीग्रो (दक्षिण अफ्रीका से लाये गये लोग) और रेड इंडियनों (अमेरिका के मूल निवासी जो काले होते हैं) को गुलाम बनाकर रखा जाता था।

लिंकन ने नस्ल एवं रंग के भेदभाव पर आधारित इस अमानवीय, अन्यायपूर्ण दास प्रथा (गुलाम प्रथा) का विरोध किया। उनका मानना था कि कुछ लोगों को स्वतंत्रता देकर और कुछ लोगों को गुलाम बनाकर राष्ट्र का शासन लंबे समय तक नहीं चलाया जा सकता है। इससे एक तरफ अमेरिका की संघीय एकता पर प्रहार होगा तो दूसरी तरफ देश की सर्वांगीण उन्नति भी नहीं हो सकती। उनका मानना था कि अमेरिका के गोरे लोगों के दिलों में अपने काले रंग के भाइयों के प्रति सच्ची सहानुभूति पैदा हो और वे उन्हें गुलामी के चंगुल से मुक्त करके भाइयों की तरह गले से लगायें और फिर काले और गोरे दोनों नस्लों के लोग मिलकर इस देश की सर्वांगीण उन्नति के लिए काम करें और अमेरिका विश्व में एक महान देश बनकर उभरे।

अब्राहम लिंकन को 1861 में संयुक्त राज्य अमेरिका के 16वें राष्ट्रपति पद के लिए नियुक्त हुए। उन्होंने गुलामी प्रथा को दूर करने के लिए प्रयास शुरू किया। दक्षिणी राज्यों के अधिकांश लोग गुलाम प्रथा के समर्थक थे, वे यथास्थितिवादी थे। परिणामस्वरूप अमेरिका में गृहयुद्ध आरंभ हो गया। अंततः लिंकन की जीत हुई। अमेरिकी की संघीय एकता बनी रही। गृहयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् विजयी भाषण देते हुए लिंकन ने यह कहा कि- 'हमारे सामने हजारों बहादुरों की लाशें पड़ी हैं। आओ, हम सब अमेरिकावासी मिलकर संकल्प लें कि दोनों ओर से इस गृहयुद्ध में मारे गये लाखों लोगों का बलिदान व्यर्थ नहीं जायेगा। ईश्वर की छत्रछाया में यह राष्ट्र नया जन्म लेगा। उसकी स्वाधीनता नयी होगी और ***जनता का, जनता पर तथा जनता द्वारा शासन का धरती से कभी अंत नहीं होगा।'***

लिंकन ने युद्ध के दौरान ही पुनर्निमाण का कार्य आरम्भ कर दिया।

14 अप्रैल, 1865 को अब्राहम लिंकन को नाटक देखते वक्त गोली मारकर हत्या कर दी गई।

सीख एवं योगदान

1. अब्राहम लिंकन का सम्पूर्ण जीवन हमें यह प्रेरणा देता है कि विकट परिस्थितियों में, सुविधाओं के अभाव में भी यदि दृढ़ इच्छाशक्ति हो, कर्म में ईमानदारी, लगन और निष्ठा हो तो फिर रास्तों के काँटों को फूल बनाकर सफलता को शिरोधार्य किया जा सकता है।
2. खाली समय में भी रचनात्मक कार्यों में संलग्नता। पुराने उपकरणों में सुधारकर, कार्य करने के नये तरीकों, मशीनों एवं औजारों की तलाश।
3. जनहित के मुकदमों में विशेष दिलचस्पी।
4. राष्ट्रपति रहते हुए उन्होंने प्रजातांत्रिक व्यवस्था को शासन प्रणाली की प्रक्रिया के रूप में अपनाया। आज अमेरिका विश्व के सबसे बड़े लोकतांत्रिक देशों में से एक माना जाता है।
5. अब्राहम लिंकन ने अपने सूझ-बूझ एवं जोशीले भाषणों से वहाँ की जनता को जागरूक किया और अंततः दास प्रथा को समाप्त किया।
6. अमेरिका की एकता एवं अखण्डता बनाये रखने का प्रयास किया। उनका नाम देश की एकता के लिए शहीद होने वालों की सूची में गिना जाता है।

नेल्सन मंडेला (1918 - 2013)

NOTES

अहिंसा के संदर्भ में 'अफ्रीका के गांधी', बहादुरी के संदर्भ में 'अफ्रीका के शेर' तथा 'विश्व शांति के दूत' से संबोधित नेल्सन (रोहिल्लाहला) मंडेला का जन्म 18 जुलाई 1918 को दक्षिण अफ्रीका के ट्रान्सकेई क्षेत्र में मैजो गांव में हुआ था। वे न्याय, समानता और सम्मान के लिए संघर्ष करने वालों के लिए अंतर्राष्ट्रीय प्रतीक एवं मार्गदर्शक है। उन्होंने देश की स्वाधीनता, लोकतंत्र एवं मानवता की रक्षा हेतु निडर होकर आजीवन संघर्ष किया तथा इस लक्ष्य की प्राप्ती हेतु पूरा जीवन लगा दिया।

अपने आत्मबल के आधार पर गरीबी, दासता, शोषण एवं उत्पीड़न से देशवासियों को मुक्ति दिलाने का प्रयास करते रहे। उन्होंने अहिंसा और अनुशासन बनाये रखते हुए सरकारी हिंसा और दमन का विरोध करने हेतु व्यापक जन आंदोलन चलाये। अपने ज्वलंत भाषणों एवं लेखन के माध्यम से लाखों लोगों की मानसिक अभिवृति में परिवर्तन किया, जन अकाक्षांओं को संगठित कर एक नई दिशा दी। वे दक्षिण अफ्रीकी स्वाधीनता संघर्ष के पर्याय के रूप में जाने जाने लगे। उनके प्रयासों से अश्वेत अफ्रीकियों को भी राष्ट्रीय चुनाव में वोट देने का अधिकार मिला और अन्ततः उन्हें स्वतंत्रता भी मिली। वे इस क्रम में 1962 से लेकर 1990 तक 27 सालों तक जेल में रहे।

1948 में अफ्रीकी राष्ट्रीय चुनावों के बाद नयी सरकार ने अन्यायपूर्ण, पक्षपातपूर्ण रंगभेद आधारित अनेक कानून बनाये और उन रंगभेदी कानूनों को बलपूर्वक लागू करना शुरू कर दिया। 1950 के दशक में नेल्सन मंडेला ने गोरी सरकार के रंगभेदी नीतियों के खिलाफ आंदोलन चलाना शुरू कर दिया। उनकी गतिविधियों को देखकर सरकार ने उनके ऊपर किसी तरह की सभा में भाग लेने पर पाबंदी लगा दी। 1962 में उन्हें हड़ताल के लिए लोगों को भड़काने एवं अन्य गैर-कानूनी गतिविधियों के लिए गिरफ्तार कर लिया गया। 1990 को उन्हें रिहा किया गया। रिहाई के बाद उन्होंने पार्टी का कमान संभाला और दक्षिण अफ्रीका को एक रंगभेद, नस्लभेद रहित लोकतंत्र बनाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया, जिसमें सभी नागरिकों को समान अधिकार प्राप्त हो। रिहाई के बाद उन्होंने जन-जागरणों एवं लोकतंत्र के लिए वातावरण बनाने का प्रयास किया। उन्होंने विदेश यात्राऐं कि और विदेशों में यह बात बतायी की जबतक नक्सलवाद की पूरी तरहा से खात्मा नहीं हो जाता तब तक दक्षिण अफ्रीकी की गोरी सरकार पर प्रतिबंध और दबाव आवश्यक है। 1991 में मंडेला को अफ्रीकी नेशनल कांग्रेस का अध्यक्ष चुना गया।

1993 में नेल्सन मंडेला और तत्कालीन राष्ट्रपति डी. क्लार्क को संयुक्त रूप में शांति के नोबेल पुरस्कार से नवाजा गया। उन्हें इस अवसर पर कहा की मैं एक लोकतांत्रिक और स्वतंत्र समाज का समर्थक हूँ जिसमें सभी एक समान हो तथा सभी एक समान मौके मिलें।

नेल्सन मंडेला 1994 में दक्षिण अफ्रीका के प्रथम अश्वेत एवं लोकतांत्रिक रूप से राष्ट्रपति पद के लिए निर्वाचित हुए। सत्तासीन होने के बाद उन्होंने सबको समान अधिकार दिया और सबसे अपील की कि बदले की भावना से कोई कार्यवाही न की जाय। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका की जर्जर अर्थव्यवस्था को सुधारने के लिए आवश्यक कदम उठाये।

1990 में भारत सरकार ने भारत के सर्वोच्च नागरिक संबंध सम्मान 'भारत रत्न' से मंडेला को सम्मानित किया। इनका निधन 5 दिसंबर 2013 को जोहान्सबर्ग में हुआ।

आत्मकथा: लॉग वॉक टु फ्रीडम

योगदान: दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद और नस्लभेद मिटाने का अद्वितीय कार्य।

विश्वशांति के दूत

गुण: ईमानदारी, निष्ठा, सरलता, उदारता, संयम, जीवटता, भविष्यदर्शी, मानवाधिकारवादी

शांति का आशय: नेल्सन मंडेला का मानना था कि शांति का मतलब केवल संघर्ष का समाप्त हो जाना ही नहीं बल्कि वास्तविक शांति तब आती है, जब सब संपन्न हों, भले ही वे किसी जाति, धर्म, देश, लिंग या समाज के हो।

गांधी का प्रभाव: नेल्सन मंडेला रंगभेद एवं नसलवाद के विरुद्ध संघर्ष करने के क्रम में महात्मा गांधी के बताये रास्ते पर चलते रहे। मंडेला का कहना था कि महात्मा गांधी उपनिवेशवाद को उखाड़ फेंकने वाले क्रांतिकारी थे। दक्षिण अफ्रीका के स्वतंत्रता आंदोलन को मूर्तरूप देने में मैंने उनसे प्रेरणा पाई।

NOTES

दक्षिण अफ्रीका के शांतिपूर्ण बदलाव में गांधी की विचारधारा का योगदान छोटा नहीं है। उनके सिद्धांतों के बल पर ही दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद की घृणित नीति के कारण जो समाज में गहरा भेदभाव था, वह खत्म हो सका।

दक्षिण अफ्रीका की 'आजादी का घोषणा पत्र' में हम नेल्सन मंडेला की कार्य पद्धति एवं विचारों के सार को देख सकते हैं।

हम दक्षिण अफ्रीकावासी अपने देश और सारे संसार को सूचित करने के लिए ऐलान करते हैं कि-

- दक्षिण अफ्रीका इसमें रहने वाले श्वेत-अश्वेत सबका है। अगर कोई सरकार जनता के अनुमोदन से चुनी गई तो वही शासन कर सकती है, नहीं तो उसे हम पर शासन करने का कोई अधिकार नहीं है। असमानता और अन्याय पर आधारित सरकार ने हमारी जनता से उसकी धरती, स्वाधीनता और शांति के जन्मसिद्ध अधिकारों को उनसे छीन लिया है। जब तक हमारे देशवासी समान अधिकारों व अवसरों के साथ भाईचारे से नहीं रहते, हम कभी समृद्ध नहीं हो सकते।
- कोई लोकतांत्रिक सरकार ही रंगभेद, जातिभेद, लिंगभेद और धर्मभेद से निरपेक्ष होकर सबको उनके जन्मसिद्ध अधिकार दे सकती है।
- इसलिए हम दक्षिण अफ्रीका के श्वेत-अश्वेत सभी निवासी समान भाव से और परस्पर भाइयों के समान होकर इस घोषणा पत्र को स्वीकार करते हैं। हम मिलकर संघर्ष करने की शपथ लेते हैं। जब तक हम इस लोकतांत्रिक घोषणा पत्र के अनुरूप लोकतांत्रिक परिवर्तन नहीं कर लेंगे, तब तक अपनी पूरी शक्ति व साहस इस संघर्ष में झोंक देंगे। इस घोषणा पत्र में दक्षिण अफ्रीका को एक स्वाधीन लोकतांत्रिक राष्ट्र बनाने की आवश्यकता पर जोर दिया गया है।
- हरेक नर-नारी को अपना वोट देने और कानून बनाने वाली किसी भी संस्था की सदस्यता के लिए उम्मीदवार बनने का अधिकार होगा।
- हरेक व्यक्ति को देश के प्रशासन में हस्तक्षेप करने का अधिकार होगा।
- सबको समान अधिकार मिलेंगे- किसी तरह के जाति, लिंग और रंगभेद के बिना।
- अल्पसंख्यकों की शासक समितियां, सलाहकार संस्थाओं और संगठनों की जगह लोकतांत्रिक संस्थान लेंगे।
- सभी सरकारी संस्थानों, अदालतों और स्कूलों में देश की सभी जातियों के सदस्यों को एक समान महत्व दिया जाएगा।
- सभी राष्ट्रीय वर्गों को उनकी जाति के प्रति किसी प्रकार के अपमान के विरूद्ध और राष्ट्रीय सम्मान के लिए कानूनी संरक्षण दिया जाएगा।
- सब लोगों को अपनी भाषा का प्रयोग करने और अपनी लोक संस्कृति व रीति-रिवाजों का विकास करने के समान अधिकार प्राप्त होंगे।
- राष्ट्रीयता, जाति और रंगभेद का प्रचार करना या व्यवहार करना दंडनीय अपराध होगा।
- सभी अलगाववादी कानून और उनको लागू किए जाने को निरस्त कर दिया जाएगा।
- हमारे देश की राष्ट्रीय संपत्ति सभी दक्षिण अफ्रीकियों का थाती है। इसे उनको सौंपा जाएगा।
- धरती के नीचे की खनिज-संपदा, बैंक और एकाधिकारवाले उद्योग इन सबका स्वामित्व सारी जनता को हस्तांतरित किया जाएगा।
- बाकी सारे उद्योग-व्यापारों को भी जनता के कल्याण में सहायता के लिए नियंत्रित किया जाएगा।
- सभी लोगों को स्वेच्छानुसार कहीं भी व्यापार करने का समान अधिकार होगा। उनको किसी भी वस्तु का उत्पादन करने, व्यवसाय, शिल्प या पेशेगत कार्य करने का भी समान अधिकार होगा।
- जाति के आधार पर धरती के स्वामित्व का परिसीमन समाप्त किया जाएगा। अकाल व भूमि की क्षुधा को समाप्त करने के लिए सारी धरती को जोतने वालों में दोबारा से बांट दिया जाएगा।

स्वतंत्रता और दायित्व (Freedom and Responsibility)

सार्त्र ने स्वतंत्रता की विशद तात्विक व्याख्या की है, लेकिन स्वतंत्रता से उनका मूल अभिप्राय: चयन की स्वतंत्रता या निर्णय की स्वतंत्रता से है अर्थात् व्यक्ति के सामने कई विकल्प होते हैं, उनमें वह अपनी इच्छा से किसी एक विकल्प का चयन करता है और इस प्रकार अपना आत्म-निर्माण करता है। सार्त्र स्पष्ट कहते हैं कि मनुष्य अपनी स्वतंत्र इच्छा-शक्ति से ही आत्म-निर्माण करता है, वह जो कुछ बनता है वह उसके स्वतंत्र निर्णय का परिणाम है।

सार्त्र यह भी मानते हैं कि यदि मनुष्य अपने निर्णय को निलंबित करता है तो भी वह (निर्णय का निलंबन) उसका स्वतंत्र निर्णय होगा। इनके अनुसार निर्णय नहीं लेना भी एक प्रकार का निर्णय है। सार्त्र के अनुसार स्वतंत्रता एक सतत् प्रवाह है जो प्रत्येक निर्णय के साथ नई-नई दिशाओं में प्रवाहित होता रहता है। यही मौलिक स्वतंत्रता मनुष्य की विशिष्टता है जो इसे जगत की वस्तुओं से पृथक करती है। सार्त्र कहते हैं कि माता-पिता के चयन आदि मनुष्य के चयन की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध है, मृत्यु भी सीमा है।

सार्त्र ने निर्णय में बाह्य कारकों के प्रभाव को पूरे तौर पर नकारा नहीं है। उनकी मान्यता है कि बाह्य परिस्थितियाँ हमारे निर्णयों को प्रभावित तो करती हैं, लेकिन निर्णायक रूप से प्रभावित नहीं करती हैं। फिर सार्त्र कहते हैं कि विभिन्न परिस्थितियों के प्रभावों में हम किस प्रभाव को स्वीकार करते हैं और किस प्रभाव को अस्वीकार करते हैं, इसका चयन हमारी स्वतंत्र इच्छा-शक्ति पर ही निर्भर करता है। स्थान, परिवेश, कार्य-स्थल आदि चुनाव में सीमाएँ लगाते हैं, परन्तु इन सीमाओं से भी स्वतंत्रता समाप्त नहीं होती।

सार्त्र के अनुसार स्वतंत्रता सर्वोच्च मूल्य है और वह अन्य मूल्यों का आधार भी है। कोई भी व्यक्ति स्वतंत्रता से बच नहीं सकता। यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि 'मैं कोई निर्णय नहीं ले रहा हूँ' और इस क्रम में वह दूसरे के निर्णय को मान लेता है तो इसमें भी वह एक निर्णय करता है। इस प्रकार सार्त्र के अनुसार प्रत्येक स्थिति में व्यक्ति चुनाव कर सकता है।

स्वतंत्रता का सैद्धांतिक आधार

सार्त्र का कहना है कि मानव-अस्तित्व की अनुभूति का अर्थ है, मानव की मौलिक स्वतंत्रता की अनुभूति। सार्त्र कहते हैं कि मनुष्य की प्रथम अनुभूति में ही अपने एकाकीपन की अनुभूति होती है। (एकाकीपन का अनुभव क्यों होता है?) मनुष्य मान लेता है कि ईश्वर के अभाव में संसार में ऐसी कोई सत्ता नहीं है जिस पर वह भरोसा-निर्भर कर सके, अत: भविष्य में उसका अस्तित्व किस दिशा में संचालित होगा, यह उसके निर्णय/निश्चय पर निर्भर करता है। यही स्वतंत्रता की प्राथमिक अनुभूति है।

सार्त्र का कहना है कि इस स्थिति या अनुभव के लिए वह स्वयं उत्तरदायी नहीं है, बल्कि व्यक्ति के अस्तित्ववान होने में ही यह निहित है अर्थात अस्तित्व में होने का अर्थ है- स्वतंत्र होना। यही स्वतंत्रता मनुष्य की विवशता है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य स्वतंत्रता से मुक्त नहीं हो सकता है। सार्त्र इसी विकट परिस्थिति को व्यक्त करने के लिए कहते हैं- **ः मानव नस्तंत्रक म्हहे ह्वर्क लवए क्षमम्स्क घ**(Man is condemned to be free)। मनुष्य को प्रत्येक स्वतंत्र निर्णय लेने में एक भार वहन करना पड़ता है और यह भार उत्तरदायित्व का भार है। सार्त्र के अनुसार स्वतंत्रता की अनुभूति में उत्तरदायित्व का भार अनिवार्यत: निहित है। यह उत्तदायित्व व्यक्ति में अपने प्रति भी होता है और अन्यों के प्रति भी। व्यक्ति निर्णय तभी लेता है जब वह यह सोच लेता है कि ऐसी परिस्थिति में फंसा प्रत्येक व्यक्ति इसी प्रकार का निर्णय लेगा। इस प्रकार व्यक्ति अपने लिये निर्णय लेने के क्रम में अन्यों का भी मार्गदर्शक बन जाता है। वह स्वयं का निर्माण करते हुए मानवता का भी निर्माण करता है। इसी संदर्भ में यह कहा गया है कि **ःाुै षकयः ाुै षवे मक्अम्नु षकीव**

उत्तरदायित्व की भावना से मानव में चिंता आदि स्ववृत्तियों का जन्म होता है। चेतन अस्तित्ववान व्यक्ति को चिंता

NOTES

आदि स्ववृत्तियों के साथ जीना चाहिए। सार्त्र के अनुसार यदि व्यक्ति इन स्ववृत्तियों के साथ जीता है तो उसके जीवन को प्रामाणिक जीवन कहा जाता है।

आलोचना

सार्त्र के दर्शन में स्वतंत्रता का विशेष महत्व है, पर यह स्वतंत्रता के विवेचन में दो प्रकार की कमियाँ दिखाई देती हैं-

1. सार्त्र स्वतंत्रता की कोई सीमा नहीं मानते, परन्तु इस प्रकार की स्वतंत्रता संभव नहीं है। यदि इसे सैद्धांतिक रूप से संभव माना भी जाए तो व्यावहारिक रूप से ऐसा संभव नहीं है। व्यावहारिक जीवन में हम परिस्थितियों से नियंत्रित होते हैं।
2. मनुष्य चेतना के साथ-साथ शरीर से युक्त भी है। शरीर वह सीमा है जो चेतना को सीमित करती है। अत: यह कहना कि मनुष्य पूर्णत: स्वतंत्र है, उचित नहीं है।

सैमुअल जॉनसन (Samuel Johnson)

- ब्रिटिश लेखक सैमुअल जॉनसन (Samuel Johnson) का कथन है कि "ज्ञान के बिना ईमानदारी (Integrity) कमजोर और व्यर्थ है, परन्तु ईमानदारी के बिना ज्ञान खतरनाक और भयानक होता है।"
- ज्ञान के अभाव में सत्यनिष्ठा सुकरात ज्ञान सदगुण है।
- ज्ञान शक्ति है और सत्यनिष्ठा उस शक्ति पर नियंत्रण है।
- दिशाहीन
- अप्रभावी
- गलत कार्यों के प्रति प्रतिष्ठता कर्तव्य-बोध का अभाव।
- उपरोक्त कथन सत्यनिष्ठा एवं ज्ञान के आंतरिक संबंध को बताता है ये दोनों सुशाधन हेतु आवश्यक है।
- जैन-त्रिरत्न
- सत्यनिष्ठा का अभाव ये ज्ञान
- ज्ञान का दुरूपयोग
- गलत कार्यों को भी सही सिद्ध करने का प्रयास।
- सामाजिक आर्थिक विकास में बाधा ओसामा, कम्प्यूटर हैकर लिए गए राजू
- गांधी
- क्रोध को जीतने में मौन सबसे अधिक सहायक है।
- कोई भी क्रोधि है, सकता है यह आसान है परंतु सही व्यक्ति से सही समय पर सीमा में उद्देश्य के साथ सही तरीके से क्रोधित होना सबके बसकी बात नहीं है।
- नोट: शांत होकर गहरी सांस लें ठंडा पानी पियें।
- संवेगात्मक बुद्धि की कमी का कारण तार्किक बुद्धि से कभी क्रोध का असंतुलित जीवन शैली तामसिक प्रवृत्ति।
- टीमवर्क, जीवनी, खेल
- योग
- मनोवैज्ञानिक, बोलने से पहले सोचना।
- क्रोध-अहिंसा
- शारीरिक

- मानसिक
- विचार तीनों के विपरीत
- डायरी लेखक-क्यों-क्या क्रिया
- मानव अधिकार + अनियंत्रित तब हानि

थॉमस वुडरो विल्सन

- अमेरिका के 28वें राष्ट्रपति।
- लोक प्रशासन विषय के जनक- एक विषय के रूप में लोक प्रशासन की शुरूआत कराने में वुडरो विल्सन की भूमिका सर्वोपरि रही है।
- शिक्षक, विधिवेत्ता, सुधारक, प्रशासक, राजनीतिज्ञ, सादा जीवन और उच्च विचार से युक्त नेता।
- विश्व को लोकतंत्र हेतु सुरक्षित बनाने और शांति की स्थापना के उनके प्रयासों के कारण 1919 में नोबेल शांति पुरस्कार से सम्मानित किया गया। उनके राजनीतिक, प्रशासनिक और आर्थिक विचारों में उच्च आदर्शवाद की झलक दिखाई देती है।
- विल्सन का मानना है कि भ्रष्ट व्यवस्था के राजनीतिक दुरूपयोग को रोकने का प्रभावी तरीका स्वंय प्रशासन के भीतर विद्यमान है। इसके लिए -
  1. सरकारी कार्यों को मितव्यतिया, कुशलता और प्रभावशीलता के साथ निर्धारित समय सीमा में निष्पादित करना आवश्यक है।
  2. प्रशासन में उत्पन्न होने वाली समस्याओं की दुविधाओं की समाप्ति और मनमाने ढंग से संसाधनों के दुरूपयोग को रोकने हेतु परिपक्व सिद्धांतो, वैज्ञानिक पद्धति एवं वस्तुनिष्ठ आधारों का होना आवश्यक है।

विल्सन **लोक प्रशासन को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि**- *'कानून को विस्तृत एवं क्रमबद्ध रूप से क्रियान्वित करने का नाम ही लोक प्रशासन है। कानून को क्रियान्वित करने की प्रत्येक क्रिया एक प्रशासनिक क्रिया है।'* इनके अनुसार सरकार का सबसे महत्वपूर्ण एवं दिखाई देने वाला अवयव या अंग प्रशासन है जो वास्तविक स्तर पर **कार्य करती सरकार (Government in Action)** के रूप में जनता के समक्ष आता है। लोक प्रशासन सरकार का कार्यकारी तंत्र है। सरकार की इच्छा और उद्देश्य इसी के माध्यम से साकारित होती है। लोक प्रशासन ही सरकार की नीतियों, योजनाओं तथा संविधान एवं कानून का क्रियान्वयन करता है। विल्सन दृढ़तापूर्वक यह मानते हैं कि संविधान एवं कानून का निर्माण करना आसान है किन्तु कानून का क्रियान्वयन कठिन है। अत: प्रशासन के विज्ञान (Science of Administration) को सुदृढ़ करना आवश्यक है। उनका मानना है कि संवैधानिक सिद्धांतों की बजाए प्रशासनिक सिद्धांतों के विकास पर अधिक ध्यान देने की जरूरत है। प्रशासनिक पद्धतियों को परिपक्व सैद्धांतिक आधारों पर प्रतिष्ठित करने की जरूरत है।

- विल्सन ने ***राजनीति एवं प्रशासन में भेद*** को स्वीकार किया है, जैसे-
  i. नीति-निर्माण एक राजनीतिक कार्य है जबकि प्रशासन नीतियों के क्रियान्वयन का कार्य करता है।
  ii. राजनीति राजनीतिज्ञों का विशेष क्षेत्र है जबकि प्रशासन मूलत: अधिकारी तंत्र एवं राज्य की सेवाओं का क्षेत्र है।
  iii. प्रशासन में कार्यरत कार्मिकों को अपने निर्णय एवं कार्य गैर-राजनीतिक ढंग से करने होते हैं। वे तटस्थ नौकरशाही का समर्थन करते हैं।
  iv. प्रशासन में कार्यरत कार्मिक राजनीति से दूर होते हैं। उनमें गैर तरफदारी का होना आवश्यक है। जैसे- राजनीतिक दलों को चंदा देना या राजनीतिक आंदोलनों या कार्यक्रमों में भाग लेना आदि वर्जित है।

विल्सन वस्तुत: प्रशासन और राजनीति में संतुलित संबंध का समर्थन करते हैं।

NOTES

मैक्स वेवर

- सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री एवं प्रशासनिक चिन्तक, लेखक एवं प्राध्यापक
- मैक्स वेवर के नौकरशाही या अधिकारी तंत्र का आदर्श रूप प्रस्तुत करते हुए कहा कि नौकरशाही निश्चित, नियमों, कार्य-विभाजन, लिखित प्रलेख, पद सोपानिक व्यवस्था पर आधारित ऐसा लक्ष्योन्मुख संगठन होता है जिसकी अपनी स्वतंत्र अधिकारीतंत्रिय नैतिकता होती है।
- यहाँ अधिकारीतंत्रीय नैतिकता का आशय नियमों से आबद्ध नौकरशाही से है। इससे अधिकारियों के कार्यों में निरंतरता होती है। यहां प्रत्येक कार्य एवं निर्णय लिखित दस्तावेजों के रूप में होता है। यहाँ निर्धारित प्रशासनिक नियमों एवं कानूनी प्रक्रिया का अनुपालन तथा प्रशासनिक क्रियाकलापों को निश्चित ढंग से पूरा करना आवश्यक है, अन्यथा कालांतर में भी दंडात्मक कार्यवाही संभव है। इससे शासन में वस्तुनिष्ठता एवं पारदर्शिता आती है तथा मनमाने तरीके से निर्णय लेने एवं भाई-भतीजावाद आदि पर रोक लगती है।
- वेवर का मानना है कि हम जिन नैतिक प्रतिमानों को व्यक्तिगत अंतर्रात्मा के मामलों में लागू करते है उन्हीं को राज्य के अधिकारी तंत्र पर लागू नहीं कर सकते क्योंकि ये नैतिक प्रतिमान हमारे व्यक्तिग सोच, मान्यताओं, संस्कारों, परंपराओं, पारिवारिक रीति-रिवाजों आदि से प्रभावित होते है जिसमें आत्मनिष्ठता होती है। ऐसी स्थिति में कार्यों में निरंतरता एवं एकरूपता का अभाव होगा।
- *समस्या*:- अधिकारी तंत्र में नियमों के कठोर अनुशासन के कारण भय, रूढ़िवादिता एवं अनावश्यक नियमबद्धता की भावना उत्पन्न होती है। इससे कार्यकुशलता में गिरावट आती है।
- वास्तव में अधिकारी को केवल नियमों से जकड़ कर या यंत्रवत् ढंग से कार्य नहीं करना चाहिए बल्कि उसे सहृदयी भी होना चाहिए। उसे मानवीय संवेदनाओं जैसे:- दया, करूणा, परानुभुति आदि उन्नत मानवीय मूल्यों से भी युक्त होना चाहिए। अत: उसे समय और परिस्थिति के अनुसार अपने व्यक्तिगत अंतर्रात्मा के नैतिक पक्षों का प्रयोग करना चाहिए। जैसे- लाइन में कोई बुजुर्ग महिला खड़ी है तो उसे वरीयता दी जा सकती है।
- संगठन के लक्ष्य से अधिकारी एंव अधीनस्थ संस्थाओं का भावनात्मक रूप से जुड़ाव नहीं हो पाता बल्कि वे नियमनानुकुल अपना सीमित निर्धारित कार्य संपादन पर बल देते हैं। अधीनस्थ ईकाईयाँ या शाखाएं संपूर्ण व्यवस्था के लक्ष्यों की अपेक्षा अपने सीमित लक्ष्यों पर अधिक बल देती हैं। परिणामस्वरूप संगठन में अनौपचारिक संबंध, भाईचारा एवं मानव संबंधों का प्रसार नहीं हो पाता।

अब्राहम एच मैस्लो (Abharam H. Maslow)

- प्रसिद्ध चिंतक, लेखक, मनोवैज्ञानिक
- आवश्यकताओं की क्रमबद्धताओं का सिद्धांत (Theory of Hierarchy of Needs)

अमेरिकी मनोवैज्ञानिक अब्राहम मैस्लो ने मानवीय व्यवहार पर आवश्यकताओं के प्रभाव की व्याख्या करने के लिए 1943 में अभिप्रेरणा की आवश्यकता-क्रमबद्धता सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इस सिद्धांत के अनुसार जब प्राणी अपने अस्तित्व के लिये आवश्यक किसी वस्तु की कमी या मांग महसूस करता है तो वह उसे प्राप्त करने के लिए क्रियाशील या अभिप्रेरित हो जाता है। उन्होंने आरम्भ में आवश्यकताओं की पाँच श्रेणियाँ प्रस्तुत की, जो निम्नलिखित है:-

1. शारीरिक (Physiological)
2. सुरक्षात्मक (Safety)
3. सामाजिक (Social)
4. सम्मान/अहम्‌गत (Esteem)
5. आत्मविकास (Self-actualization)

1. शारीरिक आवश्यकताएँ (Physiological Needs) : *व्यक्ति सर्वप्रथम अपनी शारीरिक या दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, जैसे भोजन, पानी, आवास और शारीरिक सुख आदि।* ये मनुष्य की आधारभूत आवश्यकताएं होती हैं। जब तक इन्हें पूरा नहीं किया जाता, अन्य आवश्यकताओं का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है।

2. सुरक्षात्मक आवश्यकताएँ (Safety Needs) : जीवन निर्वाह की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि हो जाने पर मानव सुरक्षात्मक आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने का प्रयास करता है। ये आवश्यकताएँ मूलत: आत्मसुरक्षा से सम्बन्धित होती है। इन आवश्यकताओं में आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक दोनों तरह की सुरक्षा सम्मिलित होती है। मानव प्राकृतिक विपत्तियों, अन्य खतरों, अभाव एवं आपराधिक गतिविधियों से सुरक्षा चाहता है।

3. सामाजिक आवश्यकताएँ (Social Needs) : मानव जीवन निर्वाह और सुरक्षात्मक आवश्यकताओं की संतुष्टि हो जाने के पश्चात् सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयास करता है। चूंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, अत: अधिकांश व्यक्ति समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ अन्त:क्रिया करना चाहते है और चाहते हैं कि समाज उनको स्वीकार करे। अपनत्व, कार्य समूह द्वारा स्वीकार किया जाना, मित्रता, प्रेम, स्नेह प्राप्त करना आदि मनुष्य की सामाजिक आवश्यकताएँ हैं।

4. स्वाभिमान आवश्यकताएँ (Esteem Needs) : सामाजिक आवश्यकताओं की संतुष्टि हो जाने पर व्यक्ति की सम्मान की आवश्यकताएँ महत्त्वपूर्ण हो जाती है। इन आवश्यकताओं में सम्मान की आकांक्षा, पहचान की आकांक्षा, मान्यता प्राप्त करने की इच्छा, प्रतिष्ठा (ख्याति) प्राप्त करने की इच्छा, स्वतंत्रता प्राप्त करने की इच्छा आदि प्रमुख हैं। जब व्यक्ति की सम्मान की आवश्यकताएँ पूरी नहीं होती तो वह अपने आपको कमजोर, असहाय और अधीनस्थ समझते हैं। अत: सम्मान की आवश्यकता व्यक्ति को अभिप्रेरित करने वाली प्रमुख शक्ति है।

5. आत्मविकास या आत्मसिद्धी की आवश्यकताएँ (Self-actualization Needs) : मैस्लो की आवश्यकता की क्रमबद्धता में मानव की आत्म विकास की आवश्यकताएँ अन्तिम स्तर पर हैं। इसका संदर्भ अपनी अंतर्निहित क्षमताओं की पहचान और उसको पूर्ण रूप से साकारित करने की आवश्यकता से है। प्रत्येक व्यक्ति में यह इच्छा होती है कि वह जितनी विकसित होने की क्षमता रखता हैं वह उसके योग्य सब कुछ बन जाए। डॉ. मैस्लो के ही शब्दों में "एक संगीतकार को संगीत बनाना चाहिए, एक कलाकार को कला विकसित करनी चाहिए, एक कवि को कविता लिखनी चाहिए, यदि वह अन्ततोगत्वा प्रसन्न होना चाहता है। एक व्यक्ति जो भी हो सकता है उसे वह होना चाहिए। इस आवश्यकता को हम आत्म विकास की आवश्यकता कह सकते हैं।"

मैस्लो ने इन पाँच आवश्यकताओं को दो मूल श्रेणियों में विभाजित किया है।–

1. निम्न स्तर की आवश्यकता और
2. उच्च स्तर की आवश्यकता।

शारीरिक आवश्यकताओं तथा सुरक्षा की आवश्यकता को मैस्लो ने निम्न स्तर की आवश्यकता में रखा है तथा बाकी तीनों आवश्यकताओं को उच्च स्तर की आवश्यकता में रखा है।

मैस्लो का मत है कि उच्च स्तरीय आवश्यकताओं की तुलना में निम्नस्तरीय आवश्यकताओं में तीव्रता अधिक पाई जाती है। लोग निम्न स्तरीय आवश्यकताओं को अधिक महत्व देते हैं और पहले उनको सन्तुष्ट करना चाहते हैं फिर वे क्रमश: सीढ़ी दर सीढ़ी उच्च स्तरीय आवश्यकताओं की तरफ बढ़ते हैं। एक बार जब पर्याप्त रूप से किसी स्तर विशेष की आवश्यकताएं सन्तुष्ट हो जाती है तब वे अगली उच्च स्तरीय आवश्यकताओं की तरफ अग्रसर होते हैं। वस्तुत: उच्च स्तरीय आवश्यकताओं का उदय होना निम्नस्तरीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि का परिणाम है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि सामाजिक आवश्यकताएं तभी महत्वपूर्ण हैं जबकि सुरक्षात्मक और शारीरिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि समुचित रूप से हो चुकी हो।

सन् 1959 में मैस्लो ने आवश्यकताओं की क्रमबद्धता संबंधी अपने सिद्धांत में तीन नयी आवश्यकताओं का समावेश किया है।

NOTES

1. *उत्तेजना अवश्यकताएँ (The Stimulation Needs)* : इसके अंतर्गत यौन-संबंध, अन्वेषण, जाँच-पड़ताल गतिविधियाँ, उद्यमिता आदि सम्मिलित हैं। सामाजिक आवश्यकताओं की सीढ़ी तक पहुंचने से पूर्व इसकी स्थिति उभरती है।
2. *एकीकरण या समग्रता आवश्यकताएँ (The Integration or Wholeness Needs)*: आत्मसिद्धि की आवश्यकता से पहले व्यक्ति या सोचता है उसकी एक एकीकृत एवं सुसंगत छवि बने, औरों के साथ मनमुटाव समाप्त हो जाए तथा एक अच्छे व्यवहार की स्थिति आ जाए।
3. *आध्यात्मिक आवश्यकताएँ (The Meta Needs or B-values)* : मैस्लो अब यह कहते हैं कि आत्मसिद्धि चरमोत्कर्ष या अंतिम पड़ाव नहीं है बल्कि इसके बाद व्यक्ति आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति चाहता है। ये आवश्यकताएँ व्यक्ति को 'वृद्धि लक्ष्यों' की ओर ले जाते हैं, जो सत्य, न्याय, सौंदर्य एवं परमार्थ से जुड़ी होती हैं। इन आवश्यकताओं के पूरा होने पर ही व्यक्ति अंततः अवसाद, विलगाव, अरूचि, निराशा, वैराग्य आदि से मुक्त हो जाता है।

मैस्लों के इन नये विचारों के पश्चात् आवश्यकताओं की क्रमबद्धता को इस प्रकार चित्रित किया जा सकता है-

KHAN GLOBAL STUDIES Most Trusted Learning Platform KHAN SIR

मैक्ग्रेगर का 'एक्स' एवं 'वाई' सिद्धान्त (McGregor's 'X' and 'Y' Theory)–

अमेरिका के व्यवहारवादी वैज्ञानिक प्रोफेसर डगलस मैक्ग्रेगर ने मानवीय प्रकृति और व्यवहार के सम्बन्ध में दो परस्पर विरोधी अवधारणाओं को बताने के लिए **सिद्धान्त 'एक्स'** (**X**) एवं **सिद्धान्त 'वाई'** **(Y)** का प्रतिपादन किया।

सिद्धान्त 'एक्स' (Theory "X") – डगलस मैकग्रेगर का सिद्धान्त 'एक्स' मानवीय प्रकृति की नकारात्मक और निराशावादी धारणा प्रस्तुत करता है। इसमें व्यक्ति को काम में कम रूचि लेने वाला, कम महत्वाकांक्षी, उत्तरदायित्वों से बचने की प्रवृत्ति रखने वाला, निर्देशित होने को पसन्द करना एवं निम्नस्तरीय आवश्यकताओं पर अधिक ध्यान देने वाले के रूप में अभिव्यक्त किया गया है। यहाँ एक औसत व्यक्ति को काम को टालने वाला, आलसी तथा रूढ़िवादी मानते हुए नेता से यह अपेक्षा की है कि वह दण्ड एवं भय से अधीनस्थों से कार्य ले।

सिद्धान्त 'वाई' (Theory 'Y') – यह मानवीय प्रकृति की सकारात्मक और आशावादी विचारधारा है। यहाँ अधीनस्थों को उत्साही, आशावादी, कर्मठ तथा परिश्रमी मानते हुए नेता से यह अपेक्षा की गई है कि वह अधीनस्थों को प्रोत्साहन एवं सम्बल प्रदान करे एवं स्वयं निर्णयन में उनकी सहायता भी ले।